

GOVERNMENT OF INDIA  
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY  
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL  
LIBRARY

---

CLASS \_\_\_\_\_

CALL No. JSa7 - Sam/Jai

D.G.A. 79.





स्तुतिविद्या (Jinasataka)

वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला

ग्रन्थांक ६

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिता

# स्तुतिविद्या

( जिनशतक )

[ समन्तभद्र-भारतीका एक अंग ]

श्रीवसुनन्दाचार्यकृत संस्कृतटीकासे अलंकृत  
तथा हिन्दी अनुवादसे युक्त

अनुवादक

साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त'

अध्यापक 'गणेश-दिगम्बरजैन-संस्कृतविद्यालय' सागर

प्रस्तावनालेखक

जुगलकिशोर मुरव्दार 'युगवीर'

प्रधान सम्पादक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

JSa7

Sam/Jai

प्रकाशक

5144

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जिला सहरनपुर

प्रथमावृत्ति } वीर-शानन-जयन्ती, संवत् २४७६ { मूल्य  
१००० प्रति } वि० सं० २००७, ३० जुलाई १९१० { द्वेद रुपया  
1950

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

SANSKRIT & HINDI BOOK-SELLERS

NAI SARAK, DELHI-2.



## प्रकाशकीय वक्तव्य

सन् १९४० में स्वामी समन्तभद्रके सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका एक बहुत बढ़िया संस्करण 'समन्तभद्रभारती' के नामसे, विशिष्ट हिन्दी अनुवादोंके साथ, वीर-सेवा-मन्दिरसे निकालनेका विचार मेरे मनमें उत्पन्न हुआ था, जिसे अनेक विद्वानोंने बहुत पसन्द किया था। इस ग्रन्थराजका कार्य सुचारु रूपसे शीघ्र सम्पन्न होनेके लिये जब विद्वानोंके सामने सहयोगकी योजना रखी गई तो कई विद्वानोंने बिन्कुल सेवाभावसे—स्वामी समन्तभद्रके अग्रसे कुछ उद्धरण होनेके खयालसे—एक-एक ग्रन्थके अनुवादकार्यको बाँट लिया। मुन्नाचे अक्तूबर सन् १९४० के 'अनेकान्त' की किरण १२ में जब वीर सेवामन्दिरकी विज्ञप्ति-द्वारा 'समन्तभद्रभारतीकी प्रकाशन-योजना' प्रकट की गई और उसकी सारी रूप-रेखा स्पष्ट की गई तब उसमें बड़ी प्रसन्नताके साथ यह घोषणा की गई थी कि:—

"पं० वंशीधरजी व्याकरणार्थने 'बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र' का, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने 'युक्त्यनुशासन' का, पं० पन्नालालजी साहिस्थाचार्यने 'जिनशतक' नामकी स्तुतिविद्याका और न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने 'देवागम' नामक आप्तमीमांसाका अनुवाद करना सहर्ष स्वीकार किया है—कई विद्वानोंने अपना अनुवादकार्य प्रारम्भ भी कर दिया है। अवशिष्ट 'रत्नकरण्डक' नामक उपासकाध्ययनका अनुवाद मेरे हिस्सेमें रहा है, प्रस्तावना तथा जीवन-चरित्र लिखनेका भार भी मेरे ही ऊपर रहेगा, जिसमें मेरे लिये अनुवादकों तथा दूसरे विद्वानोंका सहयोग भी वांछनीय होगा।"

पं० वंशीधरजीने अनुवाद-कार्य प्रारम्भ करार किया था। और उसका कुछ नमूना मुझे देखने आदिके लिये भेजा भी था। पं० फूलचन्द्रजी और पं० महेन्द्रकुमारजीने अपना-अपना अनुवादकार्य प्रारम्भ किया था कि नहीं, यह मुझे कुछ मालूम नहीं हो सका, परन्तु ये तीनों ही विद्वान अपनी-अपनी कुछ परिस्थितियोंके बश नियत अनुवादको प्रस्तुत करके देनेमें समर्थ नहीं हो सके, जिसका मुझे बड़ा अफसोस रहा। और इस लिये 'रत्नकरण्डक' का अनुवाद समाप्त करनेके कुछ अर्से बाद मैंने स्वयम्भूस्तोत्रके अनुवादको स्वयं अपने हाथमें लिया और प्रतिज्ञा-बद्ध होकर नियमसे उसका कुछ-न-कुछ कार्य प्रतिदिन करता ही रहा। साथ ही उसे अनेकान्तमें 'समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने' शीर्षकके नीचे प्रकाशित करना भी प्रारम्भ कर दिया, जिससे कहीं कुछ भूल हो तो वह सुधर जाय। उसकी समाप्तिके बाद 'युक्त्यनुशासन' के अनुवादको भी हाथमें लिया गया। यह अनुवाद अभी एक तिहाईके करीब ही हो पाया था कि कानपुरमें दि० जेनपरिषद्के अधिवेशनपर अपने बाक्सके चोरी चले जानेपर वह भी साथमें चला गया! उसके इस प्रकार चोरी चले जानेपर चित्तको बहुत आघात पहुँचा और फिर अर्से तक उस अनुवादकार्यमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी। आखिर अपनी एक वर्षगांठके अवसरपर उस अनुवादकी भी प्रतिज्ञा लोगई और तबसे वह नियमित रूपसे बराबर होता रहा तथा समाप्त हो गया। उसे भी अनेकान्तमें प्रकाशित किया जाता रहा है। इस तरह मेरे द्वारा तीन ग्रन्थोंका अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। 'देवागम' का अनुवाद भी अब मुझे ही करना है; क्योंकि इस बीचमें एक दूसरे विद्वानको भी उसका अनुवाद दिया गया था परन्तु कई वर्ष हो जानेपर भी वे उसे करके नहीं दे सके; तब उसका भी अनुवाद स्वयं ही करनेका

विचार स्थिर किया गया।

पं० पन्नालालजी 'वसन्त' अपना वह अनुवाद बहुत वर्ष पहले ही भेज चुके थे जो इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित हो रहा है। कितने ही वर्षों से यह समन्तभद्रभारतीके अन्य ग्रन्थोंके अनुवादकी प्रतीक्षामें पड़ा रहा और जब विद्वानोंके सहयोगाभावे तथा प्रेस और कागजकी कुछ परिस्थितियोंके वश समन्तभद्रभारतीका अभी उस रूपमें प्रकाशित करना अशक्य जान पड़ा जिस-रूपमें उसके प्रकाशनकी सूचना उक्त विज्ञापनमें की गई थी तब समन्तभद्रभारतीके ग्रन्थोंको प्रारम्भमें अलग-अलग प्रकाशित करनेका ही निश्चय करना पड़ा। तदनुसार सबसे पहले 'स्वयम्भूतोत्र' को प्रेसमें दिया गया। यह ग्रन्थ असेंसे प्रेसमें ही छपा हुआ रक्खा है। इसकी अभीष्ट प्रस्तावना लिखनेका मुझे अभी तक अवसर नहीं मिल सका, इसीसे प्रकाशमें नहीं लाया जा सका। अब इस ग्रन्थके बाद जल्दी ही प्रकाशमें आएगा और उसके अनन्तर 'शुक्ल्यनुशासन' तथा 'समीचीन धर्मशास्त्र' नामसे रत्नकरण्डक भी अपने भाष्यसहित प्रकाशमें लाया जाएगा। पिछले ग्रन्थकी ४-५ कारिकाओंके भाष्यका नमूना अनेकान्तमें प्रकाशित हो चुका है, और इससे अनेक सज्जन उक्त भाष्यको देखनेके लिये भी बहुत ही उत्कण्ठित हैं।

प्रेस तथा कागज आदिकी कुछ परिस्थितियोंके वश प्रस्तुत ग्रन्थ अभी तक प्रेसमें नहीं दिया जा सका था और इसके कारण अनुवादकजीको कितनी ही प्रतीक्षा करनी पड़ी, जिसका मुझे खेद है। माथ ही उनका यह धैर्य प्रशंसनीय है और इसके लिये मेरे हृदयमें स्थान है। अपने इस अनुवादके लिये वे समाजके धन्यवाद-पात्र हैं।

इस ग्रन्थका एक संस्करण आजसे कोई ३८ वर्ष पहले सन् १६१२ में स्वर्गीय पं० पन्नालालजी बाकलीवालने पं० लालारामजी



के अनुवादके साथ कारीसे प्रकाशित किया था, जो आजकल प्रायः अप्राप्य है। उस संस्करणसे वर्तमान संस्करण अनुवादके अलावा पाठ-शुद्धि, प्रस्तावना, पद्यालोकम और चित्रालंकारोंके स्पष्टीकरण आदिकी दृष्टिसे अपनी खास विशेषता रखता है और अधिक उपयोगी बन गया है।

अन्तमें मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही खेद होता है कि प्रूफरीडिंगमें बहुत कुछ सावधानी रखने जानेपर भी परावी-नताके अभिशापरूप तीन पेजके करीबका शुद्धिपत्र लगाना पड़ा है। अस्तु ; कुछ प्रकाशक अपनी छपाईके दोषको छिपानेके लिये साथमें शुद्धिपत्रका लगाना पसंद नहीं करते जबकि उनके प्रकाशनोंमें बहुत कुछ अशुद्धियाँ होती हैं परन्तु अपनेको वैसा करके दूसरोंको अंधेरेमें रखना इष्ट नहीं है और इसीसे 'अशुद्धि-संशोधन'का साथमें लगाना आवश्यक समझा गया है।

देहली (दरियागंज)

ता० २३ जुलाई १९५०

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

## धन्यवाद

समन्तभद्र-भारतीके अंगस्वरूप 'स्तुतिविद्या' नामक इस सुन्दर ग्रन्थके प्रकाशनका श्रेय श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन सुपुत्र सेठ राम-जीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर दो वर्ष हुए वीरसेवामन्दिरको अनेक ग्रन्थोंके अनुवादादि-सहित प्रकाशनार्थ दस हजार रुपयेकी सहायता प्रदान की थी और जिससे अन्य दो ग्रन्थोंके अलावा श्रीविद्यानन्दस्वामीका 'आप्तपरीक्षा' नामका महान् ग्रन्थ संस्कृत स्वोपज्ञटीका और हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ भी उसी आर्थिक सहायतासे प्रकाशित हो रहा है। अतः प्रकाशनके इस शुभ अवसरपर आपका साभार स्मरण करते हुए आपको हार्दिक धन्यवाद समर्पित है।

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

## अनुवादकके दो शब्द

—:—

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और श्रीसमन्तभद्रश्यामी ये दोनों महात्मा वर्तमान दिगम्बर जैन साहित्यके प्राणप्रतिष्ठापक हैं। इनकी अमर रचनाओंसे दिगम्बर जैन साहित्यकी ओद्युक्तिके साथ उसकी कीर्तिको समुष्णल किया है। बहुत समयसे मेरी इच्छा है कि उक्त दोनों आचार्योंकी सभी उपलब्ध रचनाएँ उनके प्रामाणिक जीवनचरितके साथ 'कुन्दकुन्दभारती' और 'समन्तभद्रभारती' के नामसे प्रकाशित की जावें। एक समय था कि जब लोग सूत्ररूप संक्षिप्त रचनाको मान देते थे, उसके बाद घात और भाष्य ग्रन्थोंको मान्यता मिलने लगी। मूल लेखकोंके सारपूर्ण संक्षिप्त लेख वृत्ति-भाष्य और टीकाकारोंके बृहद् वक्तव्योंसे वेष्टित होकर सामने आये। भाषाकारों और टीकाकारोंमें इस-यातकी होदसी होने लगी कि संक्षिप्त रचनाओंको देखें कौन अधिक विस्तृत कर सकता है। अब कुछ समय बदला है और लोगोंके हृदयमें पुनः यह आकांक्षा होने लगी है कि मूल लेखकके सार-पूर्ण स्वतन्त्र अभिप्रायको टीकाकारोंके बृहद् वक्तव्योंसे अलग किया जावे। इसीसे 'कुन्दकुन्दभारती' और 'समन्तभद्रभारती' में दोनों आचार्योंके मूल ग्रन्थोंको सरल संक्षिप्त अनुवादक साथ संकलित करनेकी मेरी इच्छा रही है।

लगभग आठ दस वर्ष हुए तब अनवरत साहित्य-सेवी वयोवृद्ध श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने मुझे इस आशयका एक पत्र लिखा कि मैं बीरसेवामानन्दसे 'समन्तभद्रभारती'

नामक ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहता हूँ, जिसमें समन्तभद्रस्यामी-  
के उपलब्ध समस्त ग्रन्थोंका आधुनिक हिन्दीमें सरल संक्षिप्त  
अनुवाद होगा। आप स्तुतिविद्या ( जिनशतक ) का अनुवाद  
कर दें। बाबूजीका एक आशयवाला पत्र पाकर मुझे बहुत प्रस-  
न्नता हुई और मैंने स्तुतिविद्याका अनुवाद लिखनेकी स्वीकृति  
दे दी। साथही कार्य प्रारम्भ भी कर दिया। दो माहमें यह कार्य  
पूर्ण होगया और प्रेसकापी तैयार कर मैंने मुख्तारजीके पास  
भेज दी। मेरा खयाल है कि सहयोग और साधनोंके अभावमें  
मुख्तारजी अपनी इच्छानुसार 'समन्तभद्रभारती' को प्रकाशित  
करनेमें शीघ्र हा अससर नहीं हो सके। उन्होंने समन्तभद्रस्यामी-  
के कुछ ग्रन्थ फुटकर रूपसे प्रकाशित करना स्थिर किया और  
तदनुसार 'स्वयम्भूस्तोत्र' आदि कुछ ग्रन्थोंको बीरसेवामन्दिरसे  
प्रकाशित भी किया जाने लगा। अब 'स्तुतिविद्या' भी प्रका-  
शित कर रहे हैं। जिस रूपमें मैं इसे जनताके समक्ष रखना  
चाहता था उस रूपमें तो नहीं रख सका हूँ। पर पूर्ण साधनोंके  
अभावमें जिस रूपमें भी इसे सामने रख रहा हूँ वह 'समन्त-  
भद्रभारती' का एक परिचायक अङ्ग ही होगा।

स्तुतिविद्या (जिनशतक) एक शब्दालंकार-प्रधान काव्यग्रन्थ  
है इसमें यमक तथा चित्रालंकारके जिन विविध रूपोंको आचार्य  
महोदयने सामने रक्खा है उन्हें देखकर आपके अगाध काव्य-  
कौशलका सहज ही पता चल जाता है। मेरा अनुभव है कि  
अर्थालंकारकी अपेक्षा शब्दालंकारकी रचना करना अत्यन्त  
कष्टसाध्य है। कुछ उत्तरवर्ती साहित्यकारोंने भले ही शब्दा-  
लंकारको काव्यके अन्तर्गत गजुभूत मानकर उपेक्षित किया है  
परन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्योंने इसे बहुत ही महत्त्व दिया है।  
अस्तु।

जिनशतक, यद्यपि संस्कृतटीका और पं० लालारामजी कृत

हिन्दी अनुवादके साथ पहले काशीसे प्रकट हो चुका है तथापि इसके आधुनिक अनुवादकी आवश्यकता थी। मैंने पूर्वमुद्रित पुस्तककी अशुद्धियोंको यथाशक्ति दूर करनेका प्रयत्न किया है और कितनेही श्लोकोंको बृहद् भावार्थ देकर स्पष्ट भी किया है। पाद-टिप्पणोंमें अलंकारगत तथा श्लोक-सम्बन्धी विशेषताको प्रदर्शित किया है। आवश्यकतानुसार संस्कृत टिप्पण भी कहीं-कहीं साथमें लगाये हैं और अंतमें चित्रालंकारके चित्र भी कमशः संकलित किये हैं। जहाँ तक भो हो सका है मैंने अपने अनुवादमें संस्कृत टीकाकारके भावको सुरक्षित रखा है, फिर भी जहाँ कहीं मुझे संस्कृतटीकासे कुछ विभिन्नता प्रदर्शित करनी थी वहाँ टिप्पणमें उल्लेख कर नूतन संस्कृतटीका भी लिखदी है, जैसा कि ८७ वें श्लोकके अनुवादमें किया गया है।

प्रयत्न करनेपर भी इस गहन ग्रन्थके अनुवादादिमें मेरे द्वारा भूलोंका होना अथवा अशुद्धियोंका रह जाना संभव है, जिनके लिये मैं विद्वानोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

सागर

नम्र

ता० २२-६-१९५०

पन्नालाल जैन

## प्रस्तावना

### ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका मूलनाम 'स्तुतिविद्या' है; जैसा कि आदिम मंगलपद्यमें प्रयुक्त हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' इस प्रतिज्ञा-वाक्यसे जाना जाता है। ग्रन्थका 'गत्सैकस्तुतिमेव' नामका जो अन्तिम पद्य कवि और काव्यके नामको लिए हुए एक चक्रवृत्त रूपमें चित्रकाव्य है उसकी छह आठों और नव वलयों-वाली चित्ररचनापरसे ग्रन्थका नाम 'जिनस्तुतिशतं' निकलता है, जैसा कि टीकाकारने व्यक्त किया है और इसलिये ग्रन्थका दूसरा नाम 'जिनस्तुतिशतं' है जो ग्रन्थकारको इष्ट रहा मालूम होता है। यह नाम जिनस्तुतियोंके रूपमें स्तुतिविद्याके पद्योंकी प्रधान संख्याको साथमें लिए हुए है और इसलिये इसे स्तुति-संख्या-परक नाम समझना चाहिये। जो ग्रन्थनाम संख्यापरक होते हैं उनमें 'शत' की संख्याके लिये ऐसा नियम नहीं है कि ग्रन्थकी पद्यसंख्या पूरी सौ ही हो वह दो चार दस बीस आधिक भी हो सकती है; जैसे समाधिशतककी पद्य-संख्या १०२ और भूधरजैनशतककी १०७ है। और भी बहुतसे शत-संख्यापरक ग्रन्थनामोंका ऐसा ही हाल है। भारतमें बहुत प्राचीनकालसे कुछ चांजोंके विषयमें ऐसा दस्तूर रहा है कि वे सौकी संख्या अथवा सैंकड़ेके रूपमें खरीदी जानेपर कुछ अधिक संख्यामें ही मिलती है, जैसे आम कहीं ११२ और कहीं १२० की संख्यामें मिलते हैं इत्यादि। शतक ग्रन्थोंमें भी ग्रन्थकारोंकी प्रायः ऐसी ही नीति रही है—उन्होंने

‘शत’ कहकर भी शतसे प्रायः कुछ अधिक पद्य ही अपने पाठकोंको प्रदान किये हैं। इस दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें ११६ पद्य होते हुए भी उसका ‘जिनस्तुतिशतं’ यह नाम सार्थक जान पड़ता है। ‘शत’ और ‘शतक’ दोनों एकार्थक हैं अतः ‘जिनस्तुतिशतं’ को ‘जिनस्तुतिशतक’ भी कहा जाता है। ‘जिनस्तुतिशतक’ का बादको संक्षिप्तरूप ‘जिनशतक’ होगया है और यह ग्रन्थका सोलरा नाम है, जिसे टीकाकारने ‘जिनशतकनामेति’ इस वाक्यके द्वारा प्रारंभमें ही व्यक्त किया है। साथ ही, ‘स्तुति-विद्या’ नामका भी उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारोंकी प्रधानताको लिये हुए है और इसलिये अनेक ग्रन्थप्रतियोंमें इसे ‘जिनशालङ्कार’ अथवा ‘जिनशतकालङ्कार’ जैसे नामसे भी उल्लेखित किया गया है और इसलिये यह ग्रन्थका चौथा नाम अथवा ग्रन्थनामका चौथा संस्करण है।

### ग्रन्थ-परिचय

समन्तभद्र-भारतीका अंगरूप यह ग्रन्थ जिन-स्तुति-विषयक है। इसमें वृषभादि चतुर्विंशतिजिनोंकी—चौबीस जैन तीर्थ-ङ्करोकी—अलङ्कृत भाषामें बड़ी ही कलात्मक स्तुति की गई है। कहीं श्लोकके एक चरणको उलट कर रख देनेसे दूसरा चरण<sup>१</sup>, पूर्वार्धको उलटकर रख देनेसे उत्तरार्ध<sup>२</sup> और समूचे श्लोकको उलटकर रख देनेसे दूसरा श्लोक<sup>३</sup> बन गया है। कहीं कहीं चरणके पूर्वार्ध-उत्तरार्धमें भी ऐसा ही क्रम रक्खा गया<sup>४</sup> है और कहीं कहीं एक चरण में क्रमशः जो अक्षर हैं वे ही दूसरे चरण में हैं, पूर्वार्धमें जो अक्षर हैं वे ही उत्तरार्धमें हैं और पूर्ववर्त्ति

१. श्लोक १०, ८३, ८८, ९२। २. श्लोक २७, ३६, ६८।

३. श्लोक ८६, ८७। ४. श्लोक ८२, ८३, ६८।

श्लोकमें जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोकमें हैं; परन्तु अथे उन सबका एक-दूसरे से प्रायः भिन्न है और वह अक्षरोंको सटा कर तथा अलग-अलग रखकर भिन्न भिन्न शब्दों तथा पदोंकी कल्पना-द्वारा संगठित किया गया है। श्लोक नं० १०२ का उत्तरार्ध है—‘श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे।’ अगले दो श्लोकोंका भी यही उत्तरार्ध इसी अक्षर-क्रमको लिखे हुए है; परन्तु वहाँ अक्षरोंके विन्यासभेद और पदादिककी जुड़ी कल्पनाओंसे अर्थ प्रायः बदल गया है।

कितने ही श्लोक ग्रन्थमें ऐसे हैं जिनमें पूर्वार्धके विषयसंख्याङ्क अक्षरोंको उत्तरार्धके समसंख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे पूर्वार्ध और उत्तरार्धके विषयसंख्याङ्क अक्षरोंको पूर्वार्धके समसंख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे उत्तरार्ध होजाता है। ये श्लोक ‘मुरज’ अथवा ‘मुरजबन्ध’ कहलाते हैं; क्योंकि इनमें मृदङ्गके बन्धनों जैसी चित्राकृतिकी लिये हुए अक्षरोंका बन्धन रक्खा गया है। ये चित्रालङ्कार थोड़े थोड़ेसे अन्तरके कारण अनेक भेदोंको लिये हुए हैं। और अनेक श्लोकोंमें समाविष्ट किये गये हैं। कुछ श्लोक ऐसे भी कलापूर्ण हैं जिनके प्रथमादि चार चरणोंके चार आद्य अक्षरोंको अन्तिमादि चरणोंके चार अन्तिम अक्षरोंके साथ मिलाकर पढ़नेसे प्रथम चरण बन जाता है। इसी तरह प्रथमादि चरणोंके द्वितीयादि अक्षरोंको अन्तिमादि चरणोंके उपाध्यायादि अक्षरोंके साथ साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेपर द्वितीयादि चरण बनजाते हैं, ऐसे श्लोक ‘अर्धभ्रम’ कहलाते हैं।

१. देखो, श्लोक ५, १२; २२, २९; ११-१२, १६-१७, ३७-३८, ४६-४७, ७६-७७, ६३-६४, १०१-१०७। २. देखो श्लोक नं० ३, ४, १८, १६, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ४६, ६०, ६२।



कुछ पद्य चक्रकृतिके रूपमें अक्षर-विन्यासको लिये हुए हैं और इससे उनके कोई कोई अक्षर चक्रमें एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़नेमें आते हैं<sup>१</sup>। उनमेंसे कुछमें यह भी लूबी है कि चक्रके गर्भवृत्तमें लिखा जानेवाला जो आदि अक्षर है वह चक्रकी चर महाविशाओंमें स्थित चारों आरोंके अन्तमें भी पढ़ता है<sup>२</sup>। १११ और ११२ नम्बरके पद्योंमें तो वह लूबी और भी बड़ी चढ़ी है। उनकी छह आरों और नव बलयां-वाली चक्ररचना करनेपर गर्भमें अथवा केन्द्रवृत्तमें स्थित जो एक अक्षर (न या र) है वही छहों आरोंके प्रथम चतुर्थ तथा सप्तम बलयमें भी पढ़ता है, और इसलिए चक्रमें १६ बार लिखा जाकर २८ बार पढ़ा जाता है। पद्यमें भी वह दो दो अक्षरोंके अन्तरालसे २८ बार प्रयुक्त हुआ है। इनके सिवाय, कुछ चक्रवृत्त ऐसे भी हैं जिनमें आदि अक्षरको गर्भमें नहीं रक्खा गया बल्कि गर्भमें वह अक्षर रक्खा गया है जो प्रथम तीन चरणोंमेंसे प्रत्येकके मध्यमें प्रयुक्त हुआ है<sup>३</sup>। इन्हींमें कवि और काव्यके नामोंको अङ्कित करनेवाला ११६वाँ चक्र-वृत्त है।

अनेक पद्य ग्रन्थमें ऐसे हैं जो एकसे अधिक अलङ्कारोंको साथमें लिये हुए हैं, जिसका एक नमूना ८४ वाँ श्लोक है, जो आठ प्रकारके चित्रालंकारोंसे अलङ्कृत है<sup>४</sup>। यह श्लोक अपनी चित्ररचनापरसे सब ओरसे समानरूपमें पढ़ा जाता है।

कितने ही पद्य ग्रन्थमें ऐसे हैं जो दो-दो अक्षरोंसे बने हैं—

१. देखो, श्लोक २१, २३, ५४ आदि। २. देखो, श्लोक २२, २३, २४। ३. देखो, पद्य नं० ११०, ११३, ११४, ११५, ११६।

४. देखो पृष्ठ नं० १०३, १०४ का फुटनोट

दो व्यञ्जनाक्षरोंसे ही जिनका सारा शरीर निर्मित हुआ है' । १४ वाँ श्लोक ऐसा है जिसका प्रत्येक पाद भिन्न प्रकारके एक-एक अक्षरसे बना है और वे अक्षर हैं क्रमशः य, न, म, त । साथ ही, 'तेतोतिता तु तेतीत' नामका १३वाँ श्लोक ऐसा भी है जिसके सारे शरीरका निर्माण एक ही तकार अक्षरसे हुआ है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और चित्रालङ्कारके अनेक भेद-प्रभेदोंसे अलंकृत है और इसीसे टीकाकार महोदयने टीकाके प्रारम्भमें ही इस कृतिको 'समस्तगुणगणोपेता' विशेषणके साथ 'सर्वालंकारभूषिता' (प्रायः सब अलंकारोंसे भूषित) लिखा है । सचमुच यह गूढ़ ग्रन्थ ग्रन्थकारमहोदयके अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण-पारिजित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है । इसकी दुर्बोधताका उल्लेख टीकाकारने 'योगिनामपि दुष्करा'—योगियोंके लिये भी दुर्गम (कठिनतासे बोधगम्य)—विशेषणके द्वारा किया है और साथ ही इस कृतिको 'सद्गुणाधारा' (उत्तम गुणोंको आधार भूत) बतलाते हुए 'सुपथिनी' भी सूचित किया है और इससे इसके अंगोंकी शोभलता, सुरभिता और सुन्दरताका भी सहज सूचन हो जाता है, जो ग्रन्थमें पद पदपर लक्षित होती है ।

### ग्रन्थरचनाका उद्देश्य

इस ग्रन्थकी रचनाका उद्देश्य, ग्रन्थके प्रथम पद्यमें 'आगसां जये' वाक्यके द्वारा 'पापोंको जीतना' बतलाया है

१. दोनों, पद्य नं० ६१, ६२, ६३, ८२, ८३, ८४, ८५, १००,

और दूसरे अनेक पद्यों में भी जिन स्तुति से पापों के जीते जाने का भाव व्यक्त किया है। परन्तु जिन स्तुति से पाप कैसे जीते जाते हैं यह एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है। यहाँ उसके स्पष्टीकरण का विशेष अवसर नहीं है, फिर भी संक्षेप में इतना जरूर बतना देना होगा कि जिन तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है वे सब पाप-विजेता हुए हैं—उन्होंने अज्ञान-मोह तथा काम-क्रोधादि पापप्रकृतियों पर पूर्णतः विजय प्राप्त की है। उनके चिन्तन और आराधन से अथवा हृदयमन्दिर में उनके प्रतिष्ठित (विराजमान) होने से पाप खड़े नहीं रह सकते—पापों के हृदय बन्धन उसी प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने से उससे लिपटे हुए साँप ढीले पड़ जाते हैं और वे अपने विजेता से घबराकर कहीं भाग निकलने की सोचने लगते हैं।<sup>१</sup> अथवा यों कहिये कि उन पुण्यपुरुषों के व्यानादिक से आत्मा का वह निष्पाप शुद्ध स्वरूप सामने आता है जो सभी जीवों की सामान्य सम्पत्ति है और जिसे प्राप्त करने के सभी भव्यजीव अधिकारी हैं। उस शुद्ध स्वरूप के सामने आते ही अपनी उस भूली हुई निधिका स्मरण हो उठता है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रेम तथा अनुराग जागृत हो जाता है और पाप-परिणति सहज ही छूट जाती है। अतः जिन पूवात्माओं में वह शुद्ध स्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है उनकी उपासना करता हुआ भव्यजीव अपने में उस शुद्ध स्वरूप को विकसित करने के लिये उसी तरह समर्थ होता है जिस तरह कि तैलादिक से सुमज्जित बत्ती

१. "हृदयं नि स्थितिं विभो ! शिष्योऽभवन्ति

जन्तोः शरणेन निधिका अपि कर्मवन्धनः ।

सद्यो भुजंगममया इव मध्यमाग-

मभ्यागते वनशिल्पिनि चेन्दुस्य ॥"

— कल्याणमन्दिर

दीपककी सपासना करती हुई उसके चरणोंमें अब तन्मयताकी दृष्टिसे अपना मस्तक रखती है तो तद्रूप होजाती है—स्वयं दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब भक्ति-योगका माहात्म्य है, स्तुति-पूजा और प्रार्थना जिसके प्रधान अंग हैं। साधु स्तोताकी स्तुति कुशल-परिणामोंकी—पुण्यप्रसादक शुभ भावोंकी—निमित्तभूत होती है और अशुभ अथवा पापकी निवृत्तिरूप वे कुशल-परिणाम ही आत्माके विकासमें सहायक होते हैं। इसीसे स्वामी सभन्तभद्रने, अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें, परमात्माकी—वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवकी—स्तुतिको कुशल-परिणामोंकी हेतु बतलाकर उसके द्वारा कल्याणमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है<sup>१</sup>। साथही, यह भी बतलाया है कि पुण्य-गुणोंका स्मरण आत्मासे पापमलको दूर करके उसे पवित्र बनाता है<sup>२</sup>। और स्तुतिविद्या (११४) में जिनदेवकी ऐसी सेवाको अपने 'तेजस्वी' तथा 'सुकृती' होने आदिका कारण निर्दिष्ट किया है।

परन्तु स्तुति कोरी स्तुति, तोता-रटम्ल अथवा रूढ़िका पातन मात्र न होकर सच्ची स्तुति होनी चाहिये—स्तुतिकर्ता स्तुत्यके गुणोंकी अनुभूति करता हुआ उनमें अनुरागी होकर तद्रूप होने अथवा उन आत्मीय गुणोंको अपनेमें विकसित करनेकी शुद्ध भावनासे सम्पन्न होना चाहिये, तभी स्तुतिका ठीक उद्देश्य एवं फल (पापों को जीतना) बटित हो सकता है और वह मन्यकारके शक्तियोंमें

१ "स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय ॥ तदा

भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य य ततः ।

किमेवं स्वाधोन्यात्मनगतिं सुलभे श्रावसपदे

स्तुत्यान् स्व किङ्गास्तत्तत्तन्मिण्यं भूमिनिगम् ॥११६॥"

२ "तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽऽवनेभ्यः ॥१७॥"

‘जन्माश्चर्याशिली’ (११५) — भवभ्रमणरूप संसार-वनको दहन-  
करने वाली अग्नि — तब वनकर आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक  
हो सकती है ।

और इसलिये स्तुत्यकी प्रशंसामें अनेक चिकनी-चुपड़ी बातें  
बनाकर उसे प्रसन्न करना और उसकी उस प्रसन्नता-द्वारा  
अपने लौकिक कार्योंको सिद्धकरना — कराना जैसा कोई उद्देश्य  
यहां अभीष्ट ही नहीं है । परमवीतराग देवके साथ वह घटित  
भी नहीं हो सकता, क्योंकि सन्निधदानन्दरूप होनेसे वह सदा-  
ही ज्ञान तथा आनन्दमय है, उसमें रागका कोई अंश भी विद्य-  
मान नहीं है, और इसलिये किसीकी पूजा-वन्दना या स्तुतिसे  
उसमें भरीत प्रसन्नताका कोई संचार नहीं होता और न वह  
अपनी स्तुति-पूजा करनेवालेकी पुरस्कारमें कुछ देता-दिलाता ही  
है । इसी तरह आत्मामें द्वेषांशके न रहनेसे वह किसीकी निन्दा  
या अवज्ञापर कभी अप्रसन्न नहीं होता, रोष नहीं करता  
और न दण्ड देने-दिलानेका कोई भाष ही मनमें लाता है ।  
निन्दा और स्तुति दोनों ही उसके लिये समान हैं, वह दोनोंके  
प्रति उदासीन है, और इसलिये उनसे उसका कुछ भी बनता  
या बिगड़ता नहीं है । फिर भी उसका एक निन्दक स्वतः दण्ड  
पा जाता है और एक प्रशंसक अभ्युदयको प्राप्त होता है, यह सब  
कर्मों और उनकी फल-प्रदान-शक्तिका बड़ा ही वैचित्र्य है, जिसे  
कर्मसिद्धान्तके अध्ययनसे भले प्रकार जाना जा सकता है । इसी  
कर्म-फल-वैचित्र्यको ध्यानमें रखते हुए स्वामी समन्तभद्रने  
अपने रथभूस्तोत्रमें कहा है —

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमस्नुते,

द्विषंस्त्वयि प्रत्यय-वत्प्रलीयते ।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि

प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥६६॥

हे भगवन् ! आप मित्र और शत्रु दोनोंके प्रति अत्यन्त उदासीन हैं—मित्रसे कोई अनुराग और शत्रुसे कोई प्रकारका द्वेषभाव नहीं रखते, इसीसे मित्रके कार्योंसे प्रसन्न होकर उसका भला नहीं चाहते और न शत्रु के कार्योंसे अप्रसन्न होकर उसका बुरा ही मनाते हैं—, फिर भी आपका मित्र ( अपने गुणानुराग, प्रेम और सक्तिभावके द्वारा श्रीविशिष्ट सौभाग्यको अर्थात् ज्ञानादि-लक्ष्मीके आधिपत्यरूप अभ्युदयको प्राप्त होता है और एक शत्रु ( अपने गुणद्वेषी परिणामके द्वारा ) 'किप्' प्रत्यय-द्विकी तरह विनाशको—अपकर्षको—प्राप्त हो जाता है, यह आपका हेतु—परित्र बड़ा ही विचित्र है !!

ऐसी स्थितिमें 'स्तुति' सचगुण ही एक विधा है। जिसे यह विद्या सिद्ध होती है वह सहज ही पार्ष्णिको जीतने और अपना आत्मविकास सिद्ध करनेमें समर्थ होता है। इस विद्याकी सिद्धि-के लिये स्तुत्यके गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें धर्ममान अनुराग चाहिये, स्तुत्यके गुण ही आत्म-गुण हैं और उनका विकास अपने आत्मामें हो सकता है ऐसी दृष्टि अत्रा चाहिये। साथ ही मन-वचन-कायरूप योगको स्तुत्यके प्राप्त एकाम्र करनेकी कला आनी चाहिये। इसी योग-साधनारूप कलाके द्वारा स्तुत्यमें स्थित प्रकाशसे अपनी स्नेहमं—भक्तिरससे—भीगी हुई आत्म-बत्ती को प्रकाशित और प्रखलित किया जाता है।

१ इसीसे टाकाकारने स्तुतिविद्याको 'घन-कठिन-घातिकर्मन्धन-दहन समर्था' ब्रिखा है—अर्थात् यह बतलाया है कि 'वह घने कठोर नात्रियाकर्मरूपो हृन्धनको भस्म करनेवाली समर्थ अग्नि है', और इससे पाठक ग्रन्थके अध्यात्मिक महत्त्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

वस्तुतः पुरातन आचार्यों-अङ्ग पूर्वाधिके पाठी महर्षियोंने वचन और काव्यको अन्य व्यापारोंसे हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और मनकी नाना-विकल्प-जनित व्यग्रताको दूर करके उसे ध्यान तथा गुणचिन्तनादि-द्वारा स्तुत्यमें लीन करनेको 'भावपूजा' कहलाया है। प्राचीनोंकी इस द्रव्यपूजा आदिके भावको श्रीश्रमिवर्गति आचार्यने अपने उपासकाचार ( वि० ११वीं शताब्दी ) के निम्न वाक्यमें प्रकट किया है—

“वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥”

स्तुति-स्तोत्रादिके रूपमें ये भक्तिपाठ ही उस समय हमारे पूजा-पाठ थे, ऐमा उपासना-साहित्यके अनुमन्वानसे जाना जाता है। आधुनिक पूजापाठोंकी तरहके कोई भी दूसरे पूजा-पाठ उस समयके उपलब्ध नहीं हैं। उस समय मुमुक्षुजन एकान्त स्थानमें बैठकर अथवा अर्द्धप्रतिमा आदिके सामने स्थित होकर बड़े ही भक्तिभावके साथ विचारपूर्वक इन स्तुति-स्तोत्रोंको पढ़ते थे और सब कुछ भूल-भुलाकर स्तुत्यके गुणोंमें लीन होजाते थे; तभी अपने उद्देश्यमें सफल और अपने लक्ष्य-को प्राप्त करनेमें समर्थ होते थे। ग्रन्थकारमहोदय उन्हीं मुमुक्षु-जनोंके श्रमणी थे। उन्होंने स्तुतिविद्याके मार्गको बहुत ही परिष्कृत किया है।

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

स्तुति विद्याका उद्देश्य प्रतिष्ठित होजाने पर अब एक बात और प्रस्तुत की जाती है और वह यह कि, जब वीतराग अहन्त-देव परम उदासीन होनेसे कुछ करते-धरते नहीं तब ग्रन्थमें उनसे प्रार्थनाएँ क्यों की गई हैं और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषय-

का आरोप किया गया है ? यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर वांछनीय एवं जाननेके योग्य है। अतः अब इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहली बात इस विषयमें यह जान लेनेकी है कि इच्छापूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला ही उसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्यका करनेवाला भी कर्ता होता है। वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा या बुद्धिका प्रयोग ही नहीं बल्कि सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका संभव भी नहीं है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिविहीनकर्ता कार्योंके प्रायः निमित्तकारण ही होते हैं और प्रत्यक्षरूपमें तथा अप्रत्यक्षरूपमें उनके कर्ता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनपर ज़रा ध्यान दीजिये—

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है।' यहाँ दवाईमें कोई इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली है—रोगहरण कार्यकी कर्ता कही जाती है; क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहाँ 'रसायन' जड़ औषधियोंका समूह होनेसे एक जड़ पदार्थ है; उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता; फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमें प्रसन्नताका आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा कलंकारकी भाषामें कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया।' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छा-



पूर्वक उसके शरीरमें कोई काम नहीं किया। हाँ, उसके निमित्तसे शरीरमें रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य खरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कार्य कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीके सामनेसे आ रहा था। सामने वाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्रीपर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आगई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकानपर भूल-आया हूँ; पुनर्वाच वह तुरन्त ही वहाँ गया और अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ, इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है। यहाँ छत्री एक जड़वस्तु है, उसमें जोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है; फिर भी चूँकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृतिआदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलं-कृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त होगया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हरलिया, मेरा धित चुरा लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया ! मुझे पागल बना दिया ! अब मैं बेकार हूँ और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-घरते नहीं बनता।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कोई खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और ■ उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धिपूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कहीं आते हुए उसे देख लिया है; फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको प्राकर उस मनुष्यके आत्म-दोषोंको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मरये भड़ रहा है; जब कि वह

उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्त कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(२) एक दुःखित और पाकित गरीब मनुष्य एक सन्तके आश्रयमें चला गया और बड़े भक्तिभावके साथ उस सन्तकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। वह सन्त संसार-वेह-भोगोंसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नहीं—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दंग रह गये। अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर सत्कारके साथ उस नवान्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंको पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्तिभाव और भी दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमें गिढ़-गिढ़ावा हुआ कहने लगता—‘हे नाथ ! आप ही मुझ वीन-हीनके रक्षक हैं, आप ही मेरे अन्नदाता हैं, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है। आपके चरण-शरणमें आनेसे ही मैं सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मैं अपनेको और जगतको भले प्रकार देख सकता हूँ। अब क्या कर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ।’ यहाँ भक्तद्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्नेहसे कुछ भी नहीं किया। उसने जो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे संकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई प्रास ही उठा कर उसे दिया है; फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई।

दूसरे भक्तजन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादि-की सुव्यवस्था करनेमें प्रवृत्त हो गये और वैसे करके अपना अहो-भाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया, फिर भी वह भक्त उस संतकी दिनचर्या और श्रवाग्विसर्ग ( मौनोपदेशरूप ) सुच-मुद्रादिकपर-से स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त हो गया। परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमें उन सन्त पुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्त कारण रहा है—भले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो। इसीसे भक्तद्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है।

इन सब उदाहरणोंपरसे यह बात सहज ही समझमें आजाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाजिमी ( अनिवार्य ) अथवा जरूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हों, वह उनके बिना भी हो सकता है और होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है; जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे, आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें परमवीतराग भी अहन्तादिदेवोंमें कर्तृत्वादि-विषयका आरोप व्यर्थ नहीं कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा (direct) किसीका कोई कार्य न करते हों, मोहनोय कर्मके अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो। क्योंकि उनके मुख्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन,

स्तयन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है—तब फिर कौन कार्य है जो अटकार रह जाय ? सभी कार्य सिद्धिसे प्राप्त होते हैं, भक्त जनोंकी मनो-कामनाएँ पूरी होती हैं, और इसलिये उन्हें वही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन् आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध होगया, जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है । रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवालेपर प्रसन्न नहीं होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह बीतराग भगवान् भी अपने सेवकपर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते हैं । प्रसन्नतापूर्वक संघन-आराधनके कारण ही दोनोंमें—रसायन और बीतरागदेवमें—प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलङ्कृत भाषाका कथन है । अन्यथा दोनोंका कार्य वस्तुस्वभावके वशवर्ती, संयोगोंको अनुकूलताको लिखे हुए, स्वतः होता है—उसमें किसीकी इच्छा अथवा प्रसन्नतादिकी कोई बात नहीं है ।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि, संसारी जीव मनसे वचनसे या कायसे जो किया करता है उससे आत्मामें कम्पन (इलत-चलन) होकर ब्रह्मकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते हैं । मन-वचन-कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभ कर्मका आस्रव होता है । तदनुसार ही बन्ध होता है । इस तरह कर्म शुभ-अशुभके भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है ।

१ "पुण्यप्रभावात् किं किं न भवति"—'पुण्यके प्रभावसे क्या-क्या वहीं होता' ऐसी आशोचित भी प्रसिद्ध है ।

शुभकार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभकार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते हैं। शुभाऽशुभ भावोंकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मध्वतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियोंमें बराबर परिवर्तन, (उलटफेर) अथवा संक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके लक्ष्यका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हीके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतरागदेवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण एवं चिन्तन करने और उनमें अनुराग बढ़ानेसे शुभ भावों (कुशलपरिणामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस (अनुभाज) सूखता और पुण्य प्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पापप्रकृतियोंका रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान लाभ, भोग, उपभोग और धीर्य (शक्ति-बल) में विघ्नरूप रह करती है—उन्हें होने नहीं देती—यह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादि-को इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकविमें उद्धृत एक आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

नेष्टं विहन्तु शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः ।

वत्कामचारेण गुणनुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः ॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि वा ये इष्ट फल-को देनेवाले हैं और वीतरागदेवमें कर्तृत्व विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार संगत और सुघटित हैं—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषयमें अकर्तापनका सर्वथा एकाग्रतपस्यघटित नहीं होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता जो उनके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होजाती हैं अथवा उपासना एवं भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती हैं। वास्तवमें परमवीतरागदेवसे प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है अथवा यों कहिये कि अलंकारकी भाषामें देवके समस्त अपनी मनः कामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'मैं आपके चरण-शरणमें रहकर और उससे पदार्थपाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता हूँ।' उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि, 'हे वीतराग देव ! आप अपने हाथ पैर हिलाकर मेरा अमुक काम कर दो, अपनी जवान चलाकर या अपनी इच्छाशक्तिको काममें लाकर मेरे कार्यके लिये किसीको प्रेरणा कर दो, आदेश दे दो अथवा सफारिश कर दो; मेरा अज्ञान दूर करनेके लिये अपना ज्ञान या उसका एक टुकड़ा तोड़कर मुझे दे दो; मैं दुखी हूँ, मेरा दुख आप ले लो और मुझे अपना सुख दे दो; मैं पापी हूँ, मेरा पाप आप अपने सिरपर उठा लो—स्वयं उसके जिम्मेदार बन जाओ—और मुझे निष्पाप बना दो।' ऐसा आशय असंभवको सम्भाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

ग्रन्थकारमहोदय देवरूपके पूर्णपरीक्षक और बहुविज्ञ थे।

उन्होंने अपने स्तुत्यदेवके लिये जिन विशेषणपदों तथा सम्बोधनपदोंका प्रयोग किया है और अपने तथा दूसरोंके लिये जैसी कुछ प्रार्थनाएँ की हैं उनमें असंभाव्य-जैसी कोई बात नहीं है--वे सब जँचे-तुले शब्दोंमें देवगुणोंके अनुरूप, स्वाभाविक, सुसंभाव्य, युक्तिसंगत और सुसंघटित हैं। उनसे देवके गुणोंका बहुत बड़ा परिचय मिलता है और वेवकी साकार मूर्ति सामने आ जाती है। ऐसी ही मूर्तिको अपने हृदय-पटलपर अंकित करके ग्रन्थकारमहोदय उसका ध्यान, भजन तथा आराधन किया करते थे; जैसा कि उनके स्वचित्तपटयालिख्य जिन चारु भक्त्ययम् (१०१) इस वाक्यसे जाना जाता है। मैं चाहता था कि उन विशेषणादिपदों तथा प्रार्थनाओंका हिन्दुदर्शन कराते हुए यहां उनपर कुछ विशेष प्रकाश डालूँ और इसके लिये मैंने उनकी एक सूची भी तय्यार की थी; परन्तु प्रस्तावना पारणासे अधिक लम्बी होती चली जाती है अतः उस विचारको यहां छोड़ना ही इष्ट जान पड़ता है। मैं समझता हूँ ऊपर इस विषयमें जो कुछ लिखा गया है उसपरसे सहृदय पाठक स्वयं ही उन सबका सामंजस्य स्थापित करनेमें समर्थ होसकेंगे। हिन्दी अनुवादमें कहीं-कहीं कुछ बातोंका स्पष्टीकरण किया गया है, जहां नहीं किया गया और सामान्यतः पदोंका अनुवाद मात्र दे दिया गया है वहां भी ग्रन्थकथनके अनुरूप उसका आशय समझना चाहिये।

### ग्रन्थकार-परिचय

इस ग्रन्थके निर्माता आचार्यब्रह्मर स्वामी समन्तभद्र हैं, जिन्हें हस्तलिखित प्रतियोंमें, प्रस्तुत कृतिका कर्ता बतलाते हुए, 'कवि-गमक-वादि-वाग्मित्व-गुणालंकृतय' विशेषणके द्वारा कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके उन चार महान् गुणोंसे अलंकृत बतलाया है जो कि स्वामी समन्तभद्रमें असाधारण

विकासको प्राप्त हुए थे और जिनके कारण उनका यश चूड़ामणि के समान सर्वोपरि था और उसकी छाया बादलों भी उस विषयके विद्वानोंके ऊपर पड़ती रही है और उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे शिरोधार्य किया है। टीकाकारने भी 'तार्किकचूड़ामणिश्रीमत्समन्तःपाचार्यचिन्ता' लिखकर इसे उन्हीं समन्तभद्राचार्यकी कृति घोषित किया है। इसके निवाय, दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी इस ग्रन्थके वाक्योंका समन्तभद्रके नामसे, अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है। उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्तामणि' को लीजिये, जिसमें अजितसेनाचार्यने निम्न वाक्यके साथ इस ग्रन्थके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समन्तभद्रार्य-जिनसेनादि-भाषितम् ।

लक्ष्यमात्रं लिखामि स्व-नामध्वनित-लक्षणम् ॥

ऐसी स्थितिमें इस ग्रन्थके समन्तभद्रकृत होनामें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है। वास्तवमें ऐसी ही महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थमें अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए जो निर्मल भक्ति-गंगा बहाई गई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही थे—दूसरे नहीं। और इसलिये ग्रन्थके अन्तम काव्यकी छह आरतें तथा नव बलयोंवाली चित्ररचनापरसे सप्तम बलयमें जो शान्तिवर्मकृतं वाक्यकी उपलब्धि होती है और उससे

१. जैसा कि विक्रमको शरीर रुपाब्दीके विद्वान् महाजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां शायिनामपि ।

यस्य सामन्तभद्रार्यं मूर्ध्नि सूषामयीपते ॥ ४४ ॥

—आदिपुराण



टाकाकारने कविका नाम, बिना किसी विवाद अथवा अपने पूर्वकथनादिके साथ विरोधके, 'शान्तिवर्मा' सूचित किया है उसे समंतभद्रका ही नामान्तर समझना चाहिये। परन्तु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं होसकता; क्योंकि मुनियोंके 'वर्मास्त' नाम प्रायः देखनेमें नहीं आते। जान पड़ता है यह आचार्यमहोदयके भातापितादि-द्वारा दिया हुआ उनके जन्मका शुभ नाम था। इस नामसे आपके सृत्रियवंशोद्भव होनेका पता चलता है। यह नाम राजघरानोंका-सा है। कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हैं। कदम्बोंमें तो 'शान्तिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है। समन्तभद्र राज-पुत्र थे और उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे, यह बात आपकी दूसरी 'आप्तमीमांसा' नामक कृति की एक प्राचीन तादृपत्रीय प्रतिके निम्न पुरुषकाव्यसे जानी जाती है, जो अवणबेलगोलके श्री दौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

“इति श्रीफणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूतोः श्री-  
स्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।”

हाँ, इस शान्तिवर्मा नामपरसे यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्रने अपने मुनि-जीवनसे पहले इस ग्रन्थकी रचना की होगी, परन्तु ग्रन्थके साहित्यपर से इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। आचार्यमहोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी

१ यह उरगपुर 'उरैयूर' का ही संस्कृत अथवा श्रुतिमयूर नाम जान पड़ता है, जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी, पुरानी विधिनापोली भी इसीको कहते हैं। यह नगर कावेरीके तट पर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धिदायक जनपद था।

जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति मुनि-अवस्थाकी ही मालूम होती है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकारकी महापाण्डित्यपूर्ण और महदुष्कृतभावसम्पन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकती। इस विषयका निर्णय करनेके लिये संपूर्ण ग्रन्थको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य नं० १६, ७६, और ११४ को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये। १६वें पद्यसे ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी संसारसे भय-भीत होनेपर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रहको छोड़कर) वीतराग भगवानकी शरणमें प्राप्त हो चुके थे और आपका आचार उस समय (ग्रन्थरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ तथा गणधरादि-अनुष्ठित आचार-जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था। वह पद्य इस प्रकार है—

पूत-स्वनवमाचारं तन्वायातं भयादुत्ता ।

स्वया वामेश पाया मा नस्तमेकार्थ्यं शंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचारं' और 'भयात् तन्वायातं' ये अपने (मा=मां पदके) दो-खास विशेषण-पद दिये हैं उसी प्रकार ७६ वें पद्यमें उन्होंने 'ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं' विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे मालूम होता है कि समन्त-भद्रके मनसे यद्यपि घ्रास-उद्देग बिल्कुल नष्ट (अस्त) नहीं

१ 'पूतः पवित्रः सुसुष्ठु, अन्वयः गणधरादि-अनुष्ठितः, आचारः पाप-क्रिया-निवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारं' इति टीका।

२ 'भयात् संसारभीतिः । तस्या शरीरेण (सद्यः) आचारं आगच्छ ।' इति टीका।

हुआ था—सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था—फिर भी वह ध्वंसमान-  
के समान हो गया था। और इस लिये उनके चित्तको उद्विग्नित  
अथवा सन्नत करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी  
स्थिति बहुत ऊँचे दर्जेपर जाकर होती है और इसलिये यह  
विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी दृक्कष्ट स्थितिको सूचित  
करता है और यह बतलाता है कि इस ग्रन्थकी रचना उनके  
मुनिजीवनमें ही हुई है। ११४ वें पद्यकी भी ऐसी ही स्थिति है।  
उसमें समन्तभद्रने श्रीरजिनेन्द्रके प्रति अपनी जिस सेवा अथवा  
अर्हदभक्तिका उल्लेख किया है वह गृहस्थावस्थामें प्रायः नहीं  
बनती। उसके 'सुस्तुत्या व्यसनं' इस उल्लेखसे तो यह साफ  
जाना जाता है कि यह 'स्तुतिविद्या' ग्रन्थ उस समय बना है  
जब कि समन्तभद्र कितनी ही स्तुतियों—स्तुतिग्रन्थोंका  
निर्माण कर चुके थे और स्तुति-रचना उनका एक अच्छा  
व्यसन बन गया था। आश्चर्य नहीं जो देवागम (आप्तमी मांसा),  
युक्त्यनुशासन और स्वयम्भू नामके स्तोत्र इस ग्रन्थसे पहले  
ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समन्तभद्र  
अपने स्तुति-व्यसनको 'सुस्तुति व्यसन' लिखनेके लिये समर्थ  
हो सके हों।

टीकाकारने भी, प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें, 'श्रीसमन्तभद्रा-  
चार्य-विरचित' लिखनेके अतिरिक्त ८४ वें पद्यमें आए हुए  
'श्रद्ध' विशेषणका अर्थ 'वृद्ध' करके, और ११५ वें पद्यके  
'वन्दीभूतवतः' पद्यका अर्थ 'मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्ना-  
चार्यरूपेण भवतोऽपि मम' ऐसा देकर यही सूचित किया है  
कि यह ग्रन्थ समन्तभद्रके मुनिजीवनकी रचना है।

स्वामी समन्तभद्रका, उनकी कृतियोंसहित, विशेष परिचय

देनेका यहाँ अवसर नहीं है। उसके लिये तो इन पंक्तियोंके लेखकका लिखा हुआ 'स्वामी समन्तभद्र' नामका वह विस्तृत निबन्ध ( इतिहास ) देखना चाहिये जो माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरसहस्रवक्त्राचारके साथ, ८४ पेजोंकी प्रस्तावनाके अनन्तर, २५२ पृष्ठोंपर जुदा ही अंकित है और जो विषय-सूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ अलग भी प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें सिर्फ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि, जैन समाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों और सुपूज्य महात्माओंमें स्वामी समन्तभद्रका आसन बहुत ऊँचा है। वे स्याद्वाद-विद्याके नायक थे, एकान्त-पक्षके निर्मूलक थे, अबाधित शक्ति थे, सातिशय योगी थे, सातिशय वादी तथा वागमी<sup>१</sup> थे। कवि एवं कविग्रहा थे, उत्तम गमक<sup>२</sup> थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशान्त थे, गम्भीर थे, उदारचेता थे सिद्धसारस्वत थे, हित-मित-भाषी थे, लोकके अनन्यहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, अकलंक-विद्यानन्दादि-जैसे बड़े-बड़े आचार्यों तथा महान् विद्वानोंसे स्तुत्य एवं वन्द्य थे और जैन-शासनके अनुपम श्रोतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे। एक शिलालेख<sup>३</sup> में उन्हें 'जिनशासनका प्रणेता' तक लिखा है और दूसरे शिलालेख<sup>४</sup> में भगवान् महावीरके तीर्थकी हज़ारगुणी वृद्धि करते

१ जो अपनी वाक्पटुता तथा शब्द-चातुरीसे दूसरोंको राज्यायसान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण हो उसे 'वागमी' कहते हैं।

२ जो दूसरेकी कृतियोंके मर्मको समझने-समझानेमें प्रवीण हो उसे 'गमक' कहते हैं।

३ अवधवेदगोखका शिलालेख नं० १०८ (२५८)

४ यह बेलूरतास्तुकेका शिलालेख नं० १७ है, शक सं० १०५३ में उत्कीर्ण हुआ है और इस समय रामानुजाचार्य-मन्दिरके महादेवके अन्दर सौम्यनाथकी मन्दिरकी छतमें लगा है।

हुए उनका उदयको प्राप्त होना अंकित किया है । उनकी 'अर्हद्भक्ति' बहुत बढ़ी चढ़ी थी और वही एकचकोटिके विकासको लिये हुए थी । उसमें अन्धश्रद्धा अथवा अन्ध विश्वासको स्थान नहीं था—गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इसलिये वह एक दम शुद्ध तथा निर्दोष थी । अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समन्तभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मालूम होते हैं । उन्होंने स्वयं भी इस बातका अनुभव किया था, और इसी लिये वे प्रस्तुत ग्रन्थमें लिखते हैं—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चाऽपि ते  
हस्तावज्जलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽपि संप्रेक्षते ।  
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेच्छी येन ते  
तेजस्वी सुजनोऽहमेव मुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

‘हे वीर भगवन् ! आपके मतमें अथवा आपके विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है—सदा आपका ही स्मरण किया करती हूँ, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाञ्जलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपको ही गुण-कथाको सुनने में लीन रहते हैं, मेरा आँखें आपके ही सुन्दर रूपको देखा करती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दरस्तुतियोंके रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है । इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह आराधन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजःपते ! ( केवलज्ञानस्वामिन् ! ) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और मुकृती ( पुण्यावान् ) हूँ ।

समन्तभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्संवाके लिये अर्पण कर दिया था। अर्हद्गुणोंमें इतनी अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थङ्कर होनेके योग्य पुरुष संव्य कर सके हैं। इसीसे अनेक ग्रन्थोंमें आपके भावी तीर्थङ्कर होनेका विधान पाया जाता है<sup>१</sup>। अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी और समन्तभद्रकी बड़ी कृति थी, उन्होंने इसीको अपना ध्येय लीखा है और यह बिल्कुल ठीक है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे समन्तभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ (स्तुतिविद्या) को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युग्मयनुशासन ये तीन आपके खास स्तुति-ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तार्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जासी अथवा बहुत ही कम पाई जाती है। समन्तभद्रने अपने स्तुति-ग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार तथा विकास किया है और इसीलिये वे 'स्तुतिकार' कहा जाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका गौरव प्राप्त था।

समन्तभद्र कांची (दक्षिण-काशी अथवा कांजीवरम्) के लग्नाटक थे—निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु थे। आपने लोकहितकी

१ देखो, त्रिकास्तकीरव, जिनेन्द्रकम्पासान्युष, चट्पाधुत-टीका (भुवसागर), अराधनाकथाकोश, राजाचलिकमे और 'अट्टहरी नव-पट्टहरी' नामकी प्रसिद्ध गाथा अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' (प्रतिपत्त) पृष्ठ ६२, ६३,

भावनासे भारतके इतिहास-उत्तर प्रदेशोंकी बहुत बड़ी सफल यात्रा की थी और अपने आत्मबल, बुद्धिबल तथा चरित्रबलके आधारपर असंख्य प्राणियोंको सन्मार्गपर लगाया था। बादको अपनी कृतिपौड्या के सभी आचार्योंके यथ-प्रदर्शक रहे हैं और रहे चले जाते हैं। आपका अस्तित्व-काल विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है।

### टीकाकारादि-परिचय

इस ग्रन्थके संस्कृत टीकाकारका विषय कुछ जटिल हो रहा है। आम-तौरपर इस टीकाके कर्ता नरसिंह नामके कोई महा-कवि समझे जाते हैं, जिनका विशेष परिचय अज्ञात है, और उसका कारण प्रायः यही जान पड़ता है कि अनेक हस्तलिखित प्रतियोंके अन्तमें इस टीकाको 'श्रीनरसिंहमहाकविमन्योत्तम-विरचिता' लिखा है<sup>१</sup>। स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालने इस ग्रन्थका 'जिनशतक' नामसे जो पहला संस्करण सन् १९१२ में जयपुरकी एक ही प्रतिका आधारपर प्रकट किया था उसके टाइपिक पेजपर नरसिंहके साथ 'भट्ट' शब्द और जोड़कर इसे 'नरसिंहभट्टकृत्याख्या' बना दिया था और तबसे यह टीका नर-सिंहभट्टकृत समझी जाने लगी है। परन्तु 'भट्ट' विशेषण ही जय-पुरकी किसी प्रतिमें तथा देहली धर्मपुराके तथा मन्दिरकी प्रतिमें भी उपलब्ध नहीं हुई और इसलिये नरसिंहका यह 'भट्ट' विशेषण तो व्यर्थ जान पड़ता है। अब देखना यह है कि इस टीकाके कर्ता वास्तवमें नरसिंह ही हैं या कोई दूसरे विद्वान्।

१ बाबा दुर्गाचन्द्रजी जयपुरके शास्त्रमण्डारकी प्रति सं० २१६ और २६६ के अन्तमें लिखा है—“इति कविगमक्यादिवार्मि-स्वगुणार्त्तकृतस्य श्रीजिनशतकमद्रस्य कृतितिर्यं जिनशताक्षरकार नाम समाप्ता ॥ टीका श्रीनरसिंहमहाकविमन्योत्तमविरचिता समाप्ता ॥

श्री पंच नाथुरामजी प्रेसीने अपने 'जैनसाहित्य और इति-  
हास' नामक ग्रन्थके ३९ वें प्रकरणमें इस चर्चाको उठाया है  
और टीकाके प्रारम्भमें लिखे हुए सात पद्योंकी स्थिति और  
अर्थपर विचार करते हुए अपना जो मत व्यक्त किया है उसका  
सार इस प्रकार है—

(१) इस टीकाके कर्ता 'नरसिंह' नहीं किन्तु 'वसुनन्दि' जान  
पड़ते हैं अभ्यया षष्ठे पद्यमें प्रयुक्त 'कुरुते वसुनन्द्यपि' वाक्यकी  
संगति नहीं बैठती ।

(२) एक तो नरसिंहकी सहायतासे और दूसरे स्वयं स्तुति-  
विद्या के प्रभावसे वसुनन्दि इस टीकाका बनानेमें समर्थ हुए ।

(३) पद्योंका ठीक अभिप्राय समझमें न आनेके कारण ही  
भाषाकार ( पंच लाळाराम ) ने इस वृत्तिको अपनी कल्पनासे  
'भक्त्योत्तमनरसिंहभट्टकृत' छपा दिया ।

इस मतकी तीसरी बातमें तो कुछ तथ्य मालूम नहीं होता;  
क्योंकि हस्तलिखित प्रतियोंमें टीकाको भक्त्योत्तम नरसिंहकृत  
लिखा ही है और इसलिये 'भट्ट' विशेषणको जोड़कर वह  
भाषाकार की कोई निजी कल्पना नहीं है । दूसरी बातका वह  
अंश ठीक नहीं ज्ञेय कि वसुनन्दिने नरसिंहकी सहायतासे  
टीका बनाई; क्योंकि नरसिंहके लिये परोक्षभूषकी क्रिया  
'वभूव' का प्रयोग किया गया है, जिससे मालूम होता है कि  
वसुनन्दिके समयमें उसका अस्तित्व नहीं था । अब रही पहली  
बात, वह भावः ठीक ज्ञान पड़ती है; क्योंकि टीकाके नरसिंह-

२ बाबा दुर्लोकचन्दजी जयपुरके मंदारकी मूल प्रणयकी दो प्रतियों  
नं० ४११, ४१४ में भी ये सातों पद्य लिखे हुए हैं, जो कि लेखकोंकी  
असाधवानी और नासमझीका परिणाम है; क्योंकि मूलकृतिके ये पद्य  
कोई अंग नहीं हैं ।



कृत होनेसे उसमें छठे पद्यकी ही नहीं किन्तु चौथे पद्यकी भी स्थिति ठीक नहीं बैठती। ये दोनों पद्य अपने मध्यवर्ती पद्य-सहित निम्न प्रकार हैं :—

तस्याः प्रबोधकः करिचन्मास्तीति विदुषां मतिः ।

यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥ ४ ॥

दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः ।

नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥ ५ ॥

स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।

तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्धपि ॥ ६ ॥

यहाँ ४थे पद्य में यह बातलाया है कि 'जबतक एक नरसिंह नामका सूर्य उस भूतकाल में उदित नहीं हुआ था जो अपने लिये परोक्ष है, तब तक विद्वानोंका यह मत था कि समस्तभद्रकी 'स्तुतिविद्या' नामकी सुपाशनीका कोई प्रबोधक—उसके अर्थको खोलने-खिलाने वाला—नहीं है।' इस वाक्यका, जो परोक्षभूतके क्रियापद 'बभूव' को साथमें लिये हुए है, उस नरसिंहके द्वारा कहा जाना नहीं बनता जो स्वयं टीकाकार हो। पाँचवें पद्यमें यह प्रकट किया गया है कि 'महान् पुरुषोंका ऐसा वचन सुना जाता है कि नरसिंहको प्राप्त हुआ दुर्गमसे दुर्गम काव्य भी सुगमसे सुगम हो जाता है।' इसमें कुछ वक्की नरसिंहके विषयमें काव्यमर्मज्ञ होने विषयक सस्मृतिका उल्लेखमात्र है और इसलिये यह पद्य नरसिंहके समयका स्वयं उसके द्वारा उक्त तथा उसके बादका भी हो सकता है। शेष छठे पद्यमें स्पष्ट लिखा ही है कि स्तुतिविद्याको समाश्रित करके किसकी बुद्धि नहीं चलती?—जरूर चलती और प्रगति करती है। यही वजह है कि जबमति होते हुए वसुनन्दी भी उस स्तुति-

विद्याकी वृत्ति कर रहा है। और इससे अगले पक्षमें आशय-का सहत्व स्थापित किया गया है।

ऐसी स्थितिमें यही कहना पड़ता है कि यह वृत्ति (टोका) वसुनन्दीकी कृति है—नरसिंहकी नहीं। नरसिंहकी वृत्ति वसुनन्दीके सामने भी माखूम नहीं होती, इसी लिये प्रस्तुत वृत्तिमें उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। जान पड़ता है वह उस समय तक नष्ट हो चुकी थी और उसकी 'किंवदन्ती' मात्र रह गई थी। अस्तु; इस वृत्तिके कर्ता वसुनन्दी संभवतः वे ही वसुनन्दी आचार्य जान पड़ते हैं जो देवागमवृत्तिके कर्त्ता हैं; क्योंकि वहाँ भी 'वसुनन्दिना जडमतिना' जैसे शब्दोंद्वारा वसुनन्दीने अपनेको 'जडमति' सूचित किया है और समन्तभट्टका स्मरण भी वृत्तिके प्रारंभमें किया गया है। साथ ही, दोनों वृत्तियोंका ढंग भी समान है—दोनोंमें पद्योंके पदक्रमसे अर्थ दिया गया है और 'किमुक्तं भवति', 'एतदुक्तं भवति'—जैसे वाक्योंके साथ अर्थका समुच्चय अथवा सारसंग्रह भी यथावधि किया गया है। हाँ, प्रस्तुत वृत्तिके अन्तमें समाप्ति-सूचक वैसे कोई गद्यात्मक या पद्यात्मक वाक्य नहीं है जेसे कि देवागमवृत्तिके अन्तमें पाये जाते हैं। यदि ये होते तो एककी वृत्ति को दूसरेकी वृत्ति समझ लेने-जैसी गड़बड़ ही न हो पाती। बहुत संभव है कि वृत्तिके अन्त में कोई प्रशस्ति-पद्य हो और वह किसी कारणवश प्रति लेखकोंसे छूट गया हो, जैसा कि अन्य अनेक ग्रन्थोंकी प्रतियोंमें हुआ है और खोजसे जाना गया है। उसके छूट जाने अथवा खण्डित हो जानेके कारण ही किसीने उस पुष्पिकाकी कल्पना की हो जो आधुनिक (१०० वर्षके भीतरकी) कुछ प्रतियोंमें पाई जाती है। इस ग्रन्थकी अभी तक कोई प्राचीन प्रति सामने नहीं आई। अतः प्राचीन प्रतियोंकी खोज होनी चाहिये,

तभी दोनों वृत्तियोंका यह सारा विषय स्पष्ट हो सकेगा।

यह टीका यद्यपि साधारण प्रायः पदोंके अर्थबोधके रूपमें है—किसी विषयके विशेष व्याख्यानको साथमें लिये हुए नहीं है—किर भी मूल ग्रन्थमें प्रवेश पानेके इच्छुकों एवं विद्यार्थियोंके लिये बड़ी ही कामकी चीज है। इसके सहारे ग्रन्थ-पदोंके सामान्यार्थ तक गति होकर उसके भीतर (अन्तरंगमें) संनिहित विशेषार्थको जानने की प्रवृत्ति हो सकती है और वह प्रयत्न करनेपर जाना तथा अनुभवमें लाया जा सकता है। ग्रन्थका सामान्यार्थ भी उतना ही नहीं है जितना कि वृत्तिमें दिया हुआ है बल्कि कहीं कहीं उससे अधिक भी होना संभव है, जैसा कि अनुवादकके उन टिप्पणोंसे भी जाना जाता है जिन्हें पृष्ठ नं० ५३ और ८० के सम्बन्धमें दिया है। होसकता है कि इस ग्रन्थ-पर कवि नरसिंही कोई बृहत् टीका रही हो और अजित-सेनाचार्यने अपने अलंकारचिन्तामणि ग्रन्थमें, ५३वें पृष्ठको उद्धृत करते हुए उसके विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले जिन तीन पद्योंको साथमें दिया है और जिन्हें अनुवादकने टिप्पण (पृ० ६४) में उद्धृत किया है वे उक्त टीकाके ही अंश हों। यदि ऐसा हो तो उस टीकाको पद्यात्मक अथवा गद्य-पद्यात्मक समझना चाहिये<sup>१</sup>।

इस ग्रन्थका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद साहित्याचार्य पं० पन्ना-लालजी 'वसन्त' ने किया है, जो कि 'गणेश-दिग्दर्शन-जैनविद्या-लय' सागरमें साहित्य तथा व्याकरण-विषयके अध्यापक हैं और अनुवाद-कार्यमें अच्छी दिलचस्पी रखते हैं। यह

१. अलंकारचिन्तामणि ग्रन्थ इस समय मेरे सामने नहीं है, देहलीमें खोजनेपर भी उसकी कोई प्रति नहीं मिल सकी, इसीसे इस विषयका कोई विशेष विचार यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

अनुवाद उन्होंने मेरी प्रेरणाको पाकर उसे मान देने हुए बड़े ही उदार एवं सेवाभावसे प्रस्तुत किया है अतः इसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ ! अनुवाद कैसा रहा, इसके बतलानेकी यहाँ जरूरत नहीं, विश्व पाठक स्वयं ही उसे पढ़ते समय समझ सकते हैं। हाँ, अनुवादकजीने अपने 'दो शब्दों' में जो यह प्रकट किया है कि 'जिस रूपमें इसे जनताके समक्ष रखना चाहता था उस रूपमें साधनाभावके कारण नहीं रख सका हूँ' वह अनेक अंशोंमें ठीक जरूर है; फिर भी यह अनुवाद पूर्ण प्रकाशित अनुवादसे बहुत अच्छा रहा है। इसमें चित्रालंकारोंकी अच्छी चर्चा की गई है और विषयके स्पष्टीकरणदिकी दृष्टिसे दूसरी भी अनेक अच्छी बातोंका समावेश हुआ है। संशोधनका भी कितना ही कार्य अनुवादकजीके द्वारा हुआ है परन्तु उसका अधिकांश भेष देहली-धर्मपुराके नया मन्दिरकी उस हस्तलिखित प्रतिको प्राप्त है जिस परसे मैंने बहुत वर्ष पहले अपनी प्रतिमें मिलानके तोट कर रखे थे और जिनके आधारपर अनेक प्रुटित पाठों तथा दूसरे संशोधनोंको टीकामें छपते समय स्थान दिया गया है। साथमें पद्यानुक्रमकी भी योजना की गई है और चित्रालंकारोंको समझनेके लिये परिशिष्टमें कुछ सूचनाएँ भी कर दी गई हैं। इस तरह ग्रन्थके प्रस्तुत संस्करणको उपयोगी बनानेकी यथासाध्य चेष्टा की गई है। आशा है पाठक इससे जरूर उपकृत होंगे।

दरियागंज, देहली

जुगलकिशोर मुख्तार

ता० २६ जुलाई १९५०



## मंगलाचरणा

यच्च तोर्जलधेर्जातं स्तुतिविद्या-सुधाभरम् ।

निर्णीय निर्जरा जाता विबुधा जगती-तले ॥१॥

उदयल-वादि-वेतल-गल-मल-दल-नः ।

जीयात्समन्तमद्रोऽसौ जिताऽमद्र-ततिः सदा ॥२॥

—अनुवादक

श्रीमत्स्वामिसमन्तमद्राचार्यविरचित—

# स्तुति-विद्या

अपर नाम

## जिन-शतक

संस्कृतटीका तथा हिन्दी अनुवाद-सहित

( टीकाकारस्य मंगलाचरणम् )

नमो वृषभनाथाय लोकाऽल्लोकाऽवल्लोकिने ।  
भोदपङ्कविशोषाय भासिते जिनभानवे ॥१॥  
समन्तभद्रं सद्बोधं<sup>१</sup> स्तुवे वर-गुणालयम् ।  
निर्मलं यद्यश्नकान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥२॥  
यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मिनी ।  
जिनशतकनामेति योगितामपि दुष्करा ॥३॥  
तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः ।  
यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥४॥  
दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः ।  
नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥५॥  
स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।  
तद्बुद्धिं येन<sup>२</sup> जाड्ये तु कुक्कते वसुनन्धपि ॥६॥  
आभयाब्जायते लोके तिःप्रभोऽपि महाबुद्धिः ।  
गिरिराजं श्रितःकाको धत्ते हि कनकच्छविम् ॥७॥

१ महाबोधं । २ 'तद्बुद्धिं यो न बोध्येत कुक्कते वसुनन्धपि' इति  
पुस्तकान्तरे पाठः ।

वृषभादि-चतुर्विंशति-तीर्थकराणां तीर्थकरनामकर्मोद्घवायुस्तम्भ-  
होतृतितासौधर्मेन्द्रादिसुरवरसेनावारिधिभाक्तिकजनसमुपनीतेत्याविधाना-  
र्हाणां धातिकर्मव्यापनन्तरसमुद्भूतविषयीकृतानेकजीवादिद्रव्यत्रिकाल-  
गोचरानन्तपर्यायकेवलज्ञानानां ह्यतिरिच्य जिनशतकनामेति । तस्याः  
समस्तगुणगणोपेतायाः सर्वात्मकारभूषितायाः धनकठिनधातुधर्मो-  
न्धनदहनसम्पत्त्याः तार्किकचूषामणिधर्मस्तम्भभद्राचार्यविरचितायाः  
संक्षेपभूतं विवरणं क्रियते ।

### श्रवमस्तुतिः

( मुरजबन्धः )

श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं प्रतिपद्याऽऽगसां जये ।

कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥ १ ॥

श्रीमज्जिनेति । पूर्वार्धमेकपञ्चमाकारेण व्यवस्थाप्य पञ्चाहं मध्येक-  
पञ्चमाकारेण तस्याजः कृत्वा मुरजबन्धो निरूपयितव्यः । प्रथमपञ्चमे

१ 'मुरजबन्ध' नामक चित्राङ्कनकार का लक्षण इस प्रकार है—

'पूर्वार्धं मूर्ध्वं पङ्क्तौ तु त्रिस्तुतिष्वहं परं वतः ।

एकान्तरितमूर्ध्वार्धो मुरजं निगदेत्कविः ॥'

'पूर्वार्धमेकपङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्य पञ्चाहं मध्येकपङ्क्त्याकारेण  
तस्याजः कृत्वा मुरजबन्धो निरूपयितव्यः । प्रथम पङ्क्तयेः प्रथमाक्षरं  
द्वितीयपङ्क्तौ द्वितीयाक्षरेण सप्त, द्वितीयपङ्क्तयेः प्रथमाक्षरं प्रथम पङ्क्तये-  
द्वितीयाक्षरेण सप्त, एवमुभयपङ्क्त्यक्षरेषु सर्वेषु संयोज्यमाक्षरमाह ॥'

—अक्षरकारनिन्तामयिः

अर्थात्—पहले श्लोकके पूर्वार्धको पङ्क्तिके आकारमें लिख कर, उदा-  
हरणको भी पङ्क्तिके आकार में उसके नीचे लिखे । इस अक्षरकारमें प्रथम  
पङ्क्तिके प्रथम अक्षरको द्वितीय पङ्क्तिके द्वितीय अक्षरके साथ और  
द्वितीय पङ्क्तिके प्रथम अक्षरको प्रथम पङ्क्तिके द्वितीय अक्षरके साथ  
मिलाकर पढ़ना चाहिये । यही कम श्लोकके अन्तिम अक्षर तक जारी

प्रथमाक्षरं द्वितीयपञ्चमे द्वितीयाक्षरेण सह, द्वितीयपञ्चमेः प्रथमाक्षरं प्रथमपञ्चमे द्वितीयाक्षरेण सह एवमुभयपञ्चमपञ्चमेषु सर्वेषु संयोज्यम् । एवं सर्वेष्वपि मुरजबन्धा रचय्याः ।

रचना चाहिये । यह सामान्य 'मुरजबन्ध' का लक्षण है । यह अक्षरकार इस स्तुतिविद्याके १, ६, ७, ८, ९, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४६, ५८, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८१, ८२, १०१, १०२, १०३, १०४, और १०५ नम्बरके पक्षों में भी है । इस मुरजबन्ध का चित्र परिशिष्ट में देखिये । 'मुरजबन्ध' की रचना मुरज- ( मुरझ ) के आकार हो जाती है, इस लिए इसका यह नाम सार्थक है ।

यह अक्षरकार 'अनन्तरपादमुरज' 'इष्टपादमुरज' आदिके सेवसे कई तरहका होता है । 'अनन्तरपादमुरज' प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ पादमें होता है । यह सेव इस पुस्तकके ४८, ६४, ६६, और १०० नम्बरके श्लोकोंमें है । इन श्लोकोंके चारों चरणोंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिये । चित्र परिशिष्टमें देखिये । 'इष्टपादमुरज' में चारों पादोंका अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध जोड़ा जाता है । यह सेव इस पुस्तकके ५०, ८६, और ८१ नम्बरके श्लोकों में है । इसके भी चारों चरणोंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिये । यह अक्षरकार कई जागह गुप्तक्रिया, गुप्तकर्म, निरौप्यवपञ्जनचित्र, गोधूत्रिका, पद्मबन्ध तथा यमक आदिके साथ भी आता है । वहाँ दो शब्दालङ्कारोंकी तिल-तण्डुलवत् निरपेक्ष संसृष्टि समझना चाहिये । अलङ्कारचिन्तामणि में मुरज-बन्ध बनानेका एक प्रकार और भी सिखा है जो कि इस पुस्तकके ६ नम्बरके श्लोकमें अपनाया गया है । वह यह है—

श्लोकके चारों पदोंको नीचे-नीचे लिखकर प्रथम पादके प्रथम अक्षर को तृतीय पादके, द्वितीय अक्षरके साथ और तृतीय पादके प्रथम अक्षरको प्रथम पादके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये । यह क्रम पादकी समाप्ति पर्यन्त जारी रहता है । फिर द्वितीय पादके



अस्य विवरणं क्रियते । श्रीविद्यते यस्य स श्रीमान्, जिनस्य पदाम्भाराः पदसमीपं जिनपदाम्भाराः ओमोच्चारणौ जिनपदाम्भाराश्च श्रीमद्विज्जन-पदाम्भारास्तं श्रीमद्विज्जनपदाम्भारां । प्रतिपद्य संप्राप्य प्रतिपद्येति प्रति-पूर्वस्य पदेः कर्त्तव्यस्य प्रयोगः । आगतां पात्राणां जये जयहेतोर्निमित्ते इवियम् । कामं इहं कमनीयं इच्छा वा स्थानं निवासः, कामं च तत्स्थानं च कामस्य वा स्थानं कामस्थानं तस्य प्रदानं कामस्थानप्रदानं अथवा कामजनं स्थानं च कामस्थाने तयोः प्रदानं कामस्थानप्रदानं तस्य ईशः कामस्थानप्रदानेशः तं कामस्थानप्रदानेशं, प्रथमपादेन सप्त सम्बन्धः । स्तुतिरेव विद्या स्तुतिविद्या तां प्रसाधयेद्भवति सम्बन्धः । अथवा कामस्थानप्रदानेशमिति स्तुतिविद्यायां विशेषणम्, कामस्थानप्रदानस्य ईश इति कामस्थानप्रदानेऽन्तस्तां । किमुक्तं भवति—ओमद्विज्जनपदा-भ्याम् प्रतिपद्य स्तुतिविद्यां प्रसाधयेद्भवं किं विशिष्टं स्तुतिविद्यां कथं-

प्रथम अक्षरको चतुर्थ पादके द्वितीय अक्षरके सप्त और चतुर्थ पादके प्रथम अक्षरको द्वितीय पादके द्वितीय अक्षरके सप्त भिन्नाक्षर पदना चाहिये । यह क्रम भी पादको समाप्ति-पर्यन्त जारी रहता है ।

अक्षंकारचिन्तामणिसमें मुरजयन्ध आदि धिक्कारकारोंका जो विस्तृत वर्णन किया गया है, वह जिनशतकालंकारकी संस्कृत टीकाके आधारपर किया गया मालूम होता है । अभी हमने ऊपर मुरजयन्ध-के जो संस्कृत सूत्रण अक्षंकारचिन्तामणिले उद्धृत किये हैं, उनमें से 'पूर्वाधर्मैकं' श्लोककी छोड़कर सब श्रौं-कार्यों जिनशतकालंकारके प्रथम और छठवें श्लोककी संस्कृत टीकाके वाक्योंसे मिलता है । जिन-शतकालंकारके कई श्लोक संस्कृतटीका—सहित अक्षंकारचिन्तामणिसमें उद्धृत किये गये हैं । यह बात अक्षंकारचिन्तामणिके कर्त्ताके स्वयं अपने शब्दोंमें स्वीकृत की है । यथा—

ओमस्तमन्तभद्रार्थ-जिनसेनादिभावितम् ।

उत्पन्नमात्रं किलामि स्वनामसूचितसंज्ञकम् ॥२८॥

मूलं वा जिनपदार्थार्थं कामस्थानप्रदानेन । किमर्थं आगतां जये जय-  
निमित्तं । प्रसाधये इति च प्रपूर्वस्यसाध संसिद्धावित्यस्य धोः शिञ्-  
ल्लङ्कृतस्य प्रयोगः ॥ १ ॥

अर्थ—कामस्थानको—इष्टस्थान ( मोक्ष )को इन्द्रियसुखके  
स्थान स्वर्गादिकको, इन्द्रिय विषयोंकी रोक-थामको, अथवा  
सुख और संसार परिभ्रमणसे निवृत्ति रूप स्थात्मस्थिति इन  
दोनोंको प्रदान करनेमें समर्थ श्रीमान्—केवलज्ञान आदिलक्ष्मी-  
से सम्पन्न—जिनेन्द्रदेवके पद-सामीप्यको प्राप्त करके—उनके  
चरण—शरणमें जाकर, पापोंको जीतनेके लिये—मोहादिक  
पापकर्मों अथवा हिंसादिक दुष्कृतों पर विजय प्राप्त करनेके  
लिए—मैं उस स्तुतिविद्याकी प्रसाधना करना चाहता हूँ—उसे  
सब प्रकारसे सिद्ध करनेके लिए उद्यत हूँ—जो उत्तम कामस्थान-  
को प्रदान करनेमें समर्थ हैं ।

भावार्थ—स्तुतिरूप विद्याकी सिद्धिमें भले प्रकार संलग्न  
होनेसे शुभ परिणामोंद्वारा पापोंपर विजय प्राप्त होती है और  
उसीका फल शक्त कामस्थानकी संप्राप्ति है । इसीलिए स्वामी  
समन्तभद्र जिनेन्द्रदेवके सम्मुख जाकर—उनकी वीतरागभूर्तिके  
सम्मुख स्थित होकर अथवा उसे अपने हृदयमन्दिरमें विराज-  
मान कर—उनकी यह स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ॥१॥

( मुदजबन्धो गोमूत्रिकाबन्धरच )

स्नात स्वमलगम्भीरं जिनमितगुणार्णवम् ।

पूतश्रीमज्जगत्सारं जनायात क्षणाच्छिवम् ॥ २ ॥

स्नात स्वमलेति । मुरजबन्धः पूर्ववद्धृष्टन्धः । स्नात इति क्रियापदं प्र्या  
शोध इत्यस्य धोः श्लोढंतस्य रूपं । सुष्ठु न विधत्ते मलं यस्य स स्वमलः  
गम्भीरः अगाधः स्वमलज्वालो गम्भीरश्च स्वमलगम्भीरः अतस्तं स्वम-

जगतीभीरम् । न मितः अमितारब्ध ते गुणश्च ते अमितगुणाः जिनिस्वामित-  
गुणाः जिनामितगुणाः जिनामितगुणा एव अर्च्यवः समुद्रः अथवा किन  
एव अमितगुणार्च्यवः जिनामितगुणार्च्यवस्त । पूतः पवित्रः श्रीमान्  
श्रीयुक्तः जगतां सारो जगत्सारः पूतश्च श्रीमांश्च जगत्सारश्च पूतधीमत्त-  
गत्सारः तं । जनाः लोकाः । यात इति क्रियापदं । या गतादित्यस्य श्रो-  
ल्लोखंतस्य प्रयोगः । जगत्पञ्चिरादचिरेत्यर्थः । शिवं शोभनं शिवस्व-  
मित्यर्थः । किमुक्तं भवति—हे जना जिनामितगुणार्च्यं यात, स्नात  
अथवा जिनामितगुणार्च्यं स्नात येन जगत्पञ्चिरं यात इति । शेषाणि  
पदानि जिनामितगुणार्च्यस्य विशेषणानि ॥२॥

अर्थ—हे भव्यजनो ! जिनेन्द्रदेव का जो अपरिमित गुण-  
समुद्र है वह अत्यन्त निर्मल, गम्भीर, पवित्र, श्रीसम्पन्न और  
जगत्का सारभूत है । तुम उसमें स्नान करो—एकप्र चित्त  
होकर उसमें अवगाहन करो, उसके गुणोंको पूर्णतया अप-  
नाओ और ( फलस्वरूप ) शीघ्र ही शिवको—आत्मकल्याण-  
को—प्राप्त करो ।

भवार्थ—उक्त गुणविशिष्ट जिनगुणसमुद्रमें भक्तिपूर्वक स्नान  
करनेसे—भ्रष्टाके साथ जिनेन्द्र गुणोंको आत्मगुण समझकर  
अपनानेसे—शीघ्र ही आत्मकल्याण सधता है । इसीसे जिन  
गुणसमुद्रमें स्नानकी सार्थक प्रेरणा की गई है ॥२॥

( अहं भगवत्परमार्थः )

धिया ये श्रितयेतात्मा यानुपायान्वरानताः ।

येऽपापा यातपारा ये श्रियाऽऽयातानतन्मत ॥ ३ ॥

१ यहाँ अर्धधर्म और गुरुपरमार्थ नामक चित्राशंकार है । उसका  
विवरण निम्न प्रकार है—

रजोके चारों चर्योंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखिये । चरों चर्योंके  
प्रथम और अन्तिम चार अक्षरोंके मिलानेसे रजोफका पहला पाद बन,

आसते सततं ये च सति पूर्वक्षयालये ।

ते पुण्यदा रतायातं सर्वदा भाऽभिरक्षत ॥४॥

(युग्मम्<sup>२</sup>)

धियेति । अर्द्धं भ्रमगूढपदार्थः । कोऽस्यार्थः चतुरोऽपि पादान्धोऽधो विन्यस्य चतुर्णां पादानां चत्वारि प्रथमाक्षराणि अन्यथाक्षराणि चत्वारि-  
गृहीत्वा प्रथमः पादो भवति । पुनरपि तेषां द्वितीयाक्षराणि चत्वार्यन्य-  
समीपाक्षराणि च चत्वारि गृहीत्वा द्वितीयः पादो भवति । एवं चत्वारोऽपि  
पादाः साध्याः । अनेन न्यायेन अर्द्धं भ्रमो भवति । प्रथमाद्धं याम्यक्षराणि  
तेषु परिचमाद्धोक्षराणि सर्वाणि प्रविशन्ति । एकस्मिन्नपि समानाक्षरे

जाता है । उन्हीं चारों चरणोंके द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलानेसे  
द्वितीय पाद बन जाता है । इसी तरह तृतीय और चतुर्थ पाद भी सिद्ध  
कर लेना चाहिये । इस न्यायसे यह श्लोक अर्धभ्रम कहलाता है । इस  
श्लोकके पूर्वार्धमें जो अक्षर आये हैं उन्हींमें उत्तरार्धके सब अक्षर प्रविष्ट  
हो जाते हैं । एक समान अक्षरमें अनेक समानाक्षरोंका भी प्रवेश हो  
सकता है । इसलिये इसे गूढ परचार्ध ( जिसका परचार्ध भाग पूर्वार्ध  
भागमें भी गुप्त हो जावे ) कहते हैं । ( अलंकारचिन्तामणि पृष्ठ ३६ )  
यह अलंकार इस पुस्तकके ४, १८, १९, २०, २१, २७, ३६, ४३,  
४४, ४६, ६० और ६२ नम्बरके श्लोकोंमें भी है । इस अलंकारमें  
कभी द्वितीय, कभी तृतीय और कभी चतुर्थ पाद भी गूढ़ हो जाता  
है । जैसे कि इसी पुस्तकके ३६वें श्लोकमें द्वितीयपाद और ४३वें  
श्लोकमें चतुर्थपाद गूढ़ हो गया है । अर्धभ्रमका चित्र परिशिष्टमें  
देखिये ।

२. “द्विभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।

कलापकं चतुभिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं श्रुतम् ॥”

हो, तीन, चार और उसके ऊपरके श्लोकोंमें क्रियासम्बन्ध होनेपर  
क्रमसे उनकी युग्म, विशेषक, कलापक, और कुलक संज्ञा होती है ।

बहुनामपि समानाचाराणां प्रवेशो भवति । अतो गूढपञ्चाङ्गोऽप्ययं भवति ।  
एषमेव जातीयाः श्लोका मृग्याः ।

धिया बुद्ध्या । ये यदो रूपं । अतया आभितया सेध्यया इत्यर्थः ।  
इत्या, विनष्टा अर्तिः मनःपीडा यस्याः सेयभितार्तिः तथा । यान् यद्  
शसंतस्य प्रयोगः । उपायान् उपपूर्वस्य अद्यगतौ अस्याजन्तस्य रूपं उप-  
गम्यानित्यर्थः । वराः प्रधानाः इन्द्रादयः नताः प्रयताः । ये च वक्ष्यभा-  
योन च शब्देन सह संबन्धः । न विद्यते पार्थ येषां ते अपापाः सुद्धाः  
कर्मरहिता इत्यर्थः । यातं पारं यैस्ते यातपाराः अभिगतसर्वपदार्थाः  
इत्यर्थः । ये च श्रीछात्रमीस्तया आयातान् अतन्वत तनु विस्तारे इत्यस्य  
घोर्लुङ्गन्तस्य रूपम् । यथा द्रव्येण राजानः आश्रितान् विस्तारयन्ति ।  
उत्तरत्र क्रियापदं तिष्ठति तेन सह सम्बन्धः ॥३॥

आसत इति । आसते आस उपवेशने इत्यस्य धोः लङ्गन्तस्य  
प्रयोगः । सततं सर्वकालं । ये च, च शब्दः समुच्चये, यद् प्रयोगान्  
जसन्तान् समुच्चिनोति पूर्वप्रकान्तान् । सति शोभने सतः इवन्तस्य  
रूपम् । न विद्यते च यः यिनाशो यस्यासावक्षयः । आक्षयः अवस्थानम् ।  
अक्षयस्यासादाक्षयश्च अक्षयाक्षयः, पुरुषस्यासावक्षयश्च पुर्वक्षयाक्षयः  
तस्मिन् पुर्वक्षयाक्षये । ते तद् प्रयोगोऽयम्, यद् प्रयोगानवेक्षते । पुण्यं  
वदते इति पुण्यदाः । रतेनायातः रतायातः अतस्तम् । रागेष्टानतं भक्ष्या  
गतमित्यर्थः । सर्वदा सर्वकालं । मा अस्मद् इवन्तस्य प्रयोगः । अभिरक्षत  
क्रियापदम् । अभिपूर्वस्य 'रक्ष पात्रने' इत्यस्य धोः लोङ्गन्तस्य प्रयोगः ।  
ते इति अभिरक्षत इति च यदो रूपेण जसन्तेन सह प्रत्येकमभिसम्ब-  
ध्यते । किमुक्तं भवति — वराः यान् उपायान् नताः प्रयताः धिया, किं  
विशिष्टया अतया, पुनरपि इत्याद्या । किमुक्तं भवति — प्रेक्षापूर्वकारिभिः  
ये स्तुताः ते मा रतायातं अभिरक्षत, ये च अपापा ये च यातपाराः ये च  
धिया आयातान् प्रयतान् अतन्वत विस्तारयन्तिस्म ये च सति पुर्वक्षया-  
क्षये सिद्धत्वपर्याये सततं आसते ये च पुण्यदाः ते पुण्यं भा सर्वदा रतेन  
भक्ष्यागतं अभिरक्षत पात्रयत इत्युक्तं भवति ॥३॥

अर्थ—जो पीडारहित—अनन्तसुखसम्पन्न है, प्राप्त हुई—  
ज्ञानावरणकर्मके अत्यन्त क्षयसे उपलब्ध—केवलज्ञानरूपी बुद्धि-  
से सहित हैं; जिन्हें उपाय-उपगम्य-सेवनीक ( समक-  
कर ) इन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष नमस्कार करते हैं; जो पाप-कर्म-  
मलसे रहित हैं; जो ( संसार-समुद्रके ) पारको पा सके हैं  
अथवा जिन्होंने सब वदार्थ जान लिये हैं; जो शरणमें आये  
हुए भव्यपुरुषोंको लक्ष्मीद्वारा विस्तृत करते हैं—केवलज्ञानादि  
लक्ष्मीसे युक्त करते हैं और जो उत्कृष्ट तथा अविनाशी मोक्ष-  
मन्दिरमें सदा निवास करते हैं वे कल्याणप्रदाता जिनेन्द्र  
भगवान् भक्तिसे सन्मुख आये हुए मुक्त भक्तकी सदा रक्षा  
करें—उनके भक्तिपूर्वक आराधनसे मैं अपना आत्मविकास  
करनेमें समर्थ हो सकूँ । ॥३॥ ४॥

(साधिकपादाभ्यासयमकः<sup>१</sup>)

नतपीला<sup>२</sup>सनाशोक सुमनोवर्षभासितः<sup>३</sup> ।

मामण्डलासनाऽशोकसुमनोवर्षभाषितः ॥५॥

१ यहाँ प्रथम पादके अन्तिम पाँच अक्षरों और द्वितीय पाद-  
की पुनरावृत्ति की गई है, अतः 'साधिकपादाभ्यास यमकालंकार' है  
जिसका लक्ष्य निम्न प्रकार है :—

‘श्लोकपादपदावृत्तिर्वर्णावृत्तिर्ध्रुवाऽध्रुवा ।

मिच्छन्वाध्यादिमध्यान्तक्षिपया यमकं हि तत् ॥’

—अलंकार चिन्तामणि, पृष्ठ ४६ ।

जहाँ अर्थकी भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णोंकी  
पुनरावृत्ति होती है वहाँ यमकालंकार होता है । वह आवृत्ति पादके  
आदि मध्य अथवा अन्तमें होती है तथा कहीं अन्य पाद पद  
और वर्णोंसे व्यवहित होती है और कहीं अव्यवहित । अलंकार-  
विवरणके प्राचीन ग्रन्थोंमें इस अलंकारके अनेक भेद बतलाये हैं परन्तु

( गुप्तक्रियो मुरजबन्धः । )

दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुर्दुभिस्वनैः ।

दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्रश्रमदुर्गिभिर्जनैः ॥६॥

( शुभम् )

१ यहाँ आवश्यक समझ कर सिर्फ ११ भेदोंका वर्णन किया जाता है—

(१) जहाँ प्रथम और द्वितीय पादमें समानता हो उसे मुख यमक, (२) जहाँ प्रथम और तृतीय पाद में समानता हो उसे सन्दर्श, ( ३ ) जहाँ प्रथम और चतुर्थपादमें समानता हो उसे आकृति, ( ४ ) जहाँ द्वितीय तृतीय पाद में समानता हो उसे गर्भ, ( ५ ) जहाँ द्वितीय और चतुर्थपादमें समानता हो उसे संदष्टक, ( ६ ) जहाँ तृतीय और चतुर्थपादमें समानता हो उसे पुच्छ, ( ७ ) जहाँ चारों घरण एक समान हों उसे पंक्ति, ( ८ ) जहाँ प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीय पाद एक समान हों उसे पत्तिका, ( ९ ) जहाँ प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पाद एक समान हों उसे युग्मक, ( १० ) जहाँ श्लोक का पूर्वार्ध और अपराध एक समान हो उसे समुद्गक और ( ११ ) जहाँ एक ही श्लोक दो बार पढ़ा जाता है उसे महायमक अथवा श्लोकयमक कहते हैं । जैसे इस पुस्तकके २६वें श्लोकमें 'संदष्टक' यमक, ११वें श्लोकमें 'युग्मक' यमक, २२वें और २९वें श्लोकमें 'समुद्गक' यमक, ११-१२ वें, १६-१७ वें, ३७-३८वें, ४६-४७ वें, ७६-७७वें, और १०६-१०७ वें श्लोकोंमें महायमक (श्लोकयमक) है । ये ११ भेद श्लोक, श्लोकार्ध, और पादकी आकृतिकी अपेक्षासे किये गये हैं । पादांश, पदांश, और वर्णोंकी आकृतिकी अपेक्षा अनेक भेद हो जाते हैं । 'देखो, निखैयसागर' बम्बईसे प्रकाशित साहित्यदर्पणकी टिप्पणी । यमकालंकारके भेद-प्रभेदोंका विशेष वर्णन सरस्वती कण्ठाभरण आदि आकरग्रन्थों में देलना चाहिये ।

१ दिवि भवैर्दिव्यैः पक्षै दिवि गगने + ऐः- गतवान् इति पदच्छेदः ।  
ये इयं गताविति धातोर्लङि मध्यमपुरुषस्यैकवचने रूपम् । अत्र 'ऐः'  
इति किया गुप्ता ।

नतपीलेति । प्रथमपादस्य पञ्चाक्षराणि अभ्यस्तानि पुनरुच्चारितानि द्वितीयपादश्च समस्तः पुनरुच्चारितः । नतानां प्रयत्नानां पीक्षा उपाधयः को को वा इति खल्वन्ताः अस्यतीति नतपीक्षासनः । तस्य सम्बोधनं हे नतपीक्षासन । न विद्यते शोको यस्यासादशोकः तस्य सम्बोधनं हे अशोक । शोभनं मनोविज्ञानं यस्य सः सुमनाः तस्य सम्बोधनं हे सुमनः अथ रथ अथवा वा समुत्तये इष्टयः । हे ऋषभ आदिलीयकर । आसितः स्थितः सन् । भामयङलं प्रभामयङलं, आसनं सिंहासनं, अशोकः अशोक-वृक्षः, सुमनसः पुष्पाणि तेषां वर्षं सुमनोवर्षं पुष्पवृष्टित्थ्यर्थः, तेषां दुग्धः तैर्भासितः शोभितः भामयङलासनाशोकसुमनोवर्षभासितः सन् । किमुक्तं भवति—हे ऋषभ अथ इत्यादि अथवा हे भटारक यदा त्वं स्थितः तदा पुनं विद्यः सन् स्थितगतश्च त्वं यदा तदा पुनंप्रकारैर्गतः । पञ्चमाक्षरलोकेन सह सम्बन्धः ॥५॥

दिव्यैरिति । क्रिया पुनः तृतीयपादे गुप्ता दिव्यैरित्यत्र । ऋषया मुरजवन्ध एवं इष्टयः तद्यथा—चतुरोपि पादानघोषो यमवस्थाप्य प्रथम-पादस्य प्रथमाक्षरेण तृतीयपादस्य द्वितीयाक्षरं, तृतीयपादस्य प्रथमाक्षरं प्रथमपादस्य द्वितीयाक्षरेण सह गृहीत्वा एवं नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिः । पुनर्द्वितीयपादस्य प्रथमाक्षरं चतुर्थपादस्य द्वितीयाक्षरेण, चतुर्थपादस्य प्रथमाक्षरेण सह द्वितीयपादस्य द्वितीयाक्षरं च गृहीत्वा पुनरनेन विधानेन तावन्नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिर्भवति । ततो मुरजवन्धः स्यात् ।

दिवि भवानि दिव्यानि अतस्तैर्दिव्यः इन्द्रं कृत्वा जमिसितछत्र-चामरैः पुनरपि दुन्दुभिरवधैः दिव्यैरिति प्रत्येकं समाप्यते । दिवि आकाशे ऐः गतयान् इण् गतावित्यस्य घोः लङन्तस्य रूपम् । विनिर्मितानि कृतानि स्तोत्राणि स्तवनानि विनिर्मितस्तोत्राणि तेषु । भमः अभ्यासः । नानाप्रकारेण मधुरत्वेण (स्वरेण) कृतस्तवनमित्यर्थः विनिर्मितस्तोत्रभमः स एव वदुः वाद्यविशेषः विनिर्मितस्तोत्रभमवदुः । स येषामस्ति ते



विनिर्मितश्रमस्तोत्रदुर्दिशः । तैः सह अथवा विनिर्मितस्तोत्रश्रमेश्च दुर्दिशोत्तमैः सह जनैः समवसृतिप्रजाभिरित्यर्थः । किमुक्तं भवति—  
अनुष्णिक्कायदेवेन्द्रचक्रधरयज्ञदेववासुदेवप्रभृतिभिः सह गतः स्थितश्च  
भवान्, ततो भवानेव परमात्मा एतदुक्तं भवति ॥६॥

अर्थ—हे ऋषभदेव ! आप नञ मनुष्योंकी सांसारिक व्यथाओंको हरने वाले हैं, शोकरहित हैं, आपका हृदय उत्तम है—लोककल्याणकारक भावनासे पूर्ण है । हे प्रभो ! आप भामण्डल, सिंहासन, अशोकशृङ्ग, पुष्पवृष्टि, मनोहर दिव्यध्वनि, श्वेत-च्छत्र, चमर और दुन्दुभिनिनादसे शोभित होकर, अनेक स्तोत्रोंमें श्रम करनेवाले—मधुरध्वनिसे अनेक स्तुति करने वाले—तथा ददुर आदि वाद्योंसे सहित दिव्यजनोंके—देवेन्द्र विद्याधर चक्रवर्ती आदिके—साथ ( समवसरणभूमिमें ) आसीन—(स्थित) हुए थे और उन्हीं के साथ आपने आकाश-विहार किया था ॥

मवार्थ—जब भगवान् समवसरण-भूमिमें विराजमान होते हैं तब उनके तीर्थंकर नामकर्मके उदयके कलस्वरूप अष्ट प्रातिहार्यरूप विभूति प्रकट होती है वे उससे अत्यन्त शोभायमान होते हैं । समवसरणमें बैठे हुए देव विद्याधर आदि भव्यजीव तरह-तरहके बाजे बजाते हुए मनोहर शब्दोंसे उनकी स्तुति करते हैं । तथा जब भगवान्का आकाश-मार्गसे विहार होता है तब भी प्रातिहार्यरूप विभूति और अनेक उत्तम जन उनके साथ रहते हैं । इन सब बातोंसे आचार्य समन्तभद्रने भगवान् ऋषभदेवका अलौकिक प्रभाव प्रकट किया है ॥६,६॥

( मुरजबन्धः )

यतः श्रितोपि कान्तामिदं दृष्ट्वा गुरुतया स्ववान् ।

वीतचेतोविकाराभिः सृष्टा चारुधियां भवान् ॥७॥

यतः श्रितः इति । यतः यस्मात् श्रितोपि आश्रितोपि सेवितोपि कान्ताभिः स्त्रीभिः चानप्यन्तरादिरमणीभिः । तथापि इष्टा प्रेक्षिता गुरुतया गुरुत्वेन गुरोर्भावः गुरुता तया । स्ववान् आत्मवान् ज्ञानवान्-त्यर्थः । किं विशिष्टाभिः स्त्रीभिः वीतचेतोविकाराभिः वीतः विमष्टः वेतलः चित्तस्य विकारः कामाभिलाषः यासौ ताः वीतचेतोविकाराः ताभिः वीतचेतोविकाराभिः । सृष्टा विधाता । चारुधियां ताः धियश्च चारुधियः अतस्तासां चारुधियां शोभनबुद्धीनां । भवान् भट्टारकाः । किमुक्तं भवति—समवसृतिस्थस्त्रीजनसेवितोपि गुरुत्वेन ईक्षितासि यतस्ततः शोभनबुद्धीनां सृष्टा कर्त्ता भवानेव एतदुक्तं भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आप समवसरणमें अनेक निर्विकार—कामेन्द्रियासे रहित—सुन्दर देवियोंके द्वारा सेवित होते हैं—बहुत देवियां आपकी उपासना करती हैं—तथापि आत्मवान्—जितेन्द्रिय होनेके कारण आप महान्—पूज्य ही माने जाते हैं; अतः निर्मल बुद्धिके उत्पन्न करनेवाले विधाता आप ही हो ।

“इष्टा” यहां पर कर्तृवाच्य में ‘दृष्ट्वा’ प्रत्यय हुआ है और ‘गुरुत्वेन’ शीघ्रतः श्रुते गुरौ पितरि दुर्भरे’ इस कोश-वाक्यसे गुरु शब्दका पिला अर्थ भी स्पष्ट है; यदि श्लोक में ‘ताः’ इस कर्म पदका ऊपरसे सरण्य कर लिया जावे तो श्लोकका एक अर्थ यह भी हो सकता है—‘हे प्रभो ! आप अनेक सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा सेवित होनेपर भी उन्हें पितृभावसे देखते हैं अर्थात् जिस प्रकार पुत्रोंके प्रति पिताकी दृष्टि विकार—रहित होती है उसी तरह उनके प्रति भी आपकी दृष्टि विकार-रहित होती है; क्योंकि आप स्ववान् हैं—जितेन्द्रिय अथवा ज्ञानवान् हैं । और इसलिये उत्तम बुद्धिके उत्पादक आप ही माने जा सकते हैं ।”

भावार्थ—यद्यपि लोकमें स्त्रियोंका सम्पर्क प्रायः मानवकी प्रतिष्ठाको कम करनेवाला माना गया है तथापि उससे आपकी प्रतिष्ठामें कुछ भी कमी नहीं आती । क्योंकि जो स्त्रियां आपकी उपासना करती हैं वे स्वयं उस समय विकार-रहित होती हैं और आप आत्मवशो-ज्ञानवान् होनेके कारण विकार-रहित हैं ही । ऐसी अवस्थामें यदि स्त्रियां मनोहर स्तोत्रोंसे आपकी 'भक्ति' करती हैं तो वह कुछ भी असमंजस प्रतीत नहीं होता ॥ ७ ॥

( मुरजवम्भः )

विज्वमेको रुचामाऽऽको व्यापो येनार्थ्य ! वर्तते ।

शश्वलोकोऽपि चाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥८॥

विश्वमेक इति । विश्वं समस्तं क्रियाविशेषणमेतत् । एकः अद्वितीयः । रुचा दीप्तानां आकः प्रापकः । कर्मणि तेर्थं । व्यापः व्यापका । येन यत्मात् । हेतौ भा । हे आर्य महारक ! वर्तते शश्वत् सर्वदा । लोकः द्रव्याधारः शश्वलोकः । अपि च अन्यत्त्वं । अलोकोपि अलोकाकाशमपि । द्वीपः समुद्रे जलविरहितः प्रदेशः । ज्ञानं केवलज्ञानम् । अर्णवः समुद्रः । ज्ञानमेवार्णवः ज्ञानार्णवः तस्य ज्ञानार्णवस्य । ते तव । अथवा लोकस्यैव विशेषणम् । रुचिः ज्ञानैः आकः परिच्छेद्यः व्यापः मेयः । येन कारणेन लोकआलोकरच आको व्यापश्च ज्ञानार्णवस्य ते तव तेन कारणेन द्वीपो वर्तते इति । किमुक्तं भवति—सर्वपदार्थेभ्यः केवलज्ञानस्यैव माहात्म्यं दत्तं भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—हे आर्य ! यह समस्त लोक और अलोक आपके केवलज्ञानका ही होय है—आपका केवलज्ञान लोकवर्ति समस्त पदार्थों और अलोकाकाश को जानता है—अतः वह आपके ज्ञानरूप समुद्रका एक द्वीप है ।

भावार्थ—जिस प्रकार विस्तृत समुद्रके भीतर द्वीप होता है

उसी प्रकार आपके ज्ञानके भीतर लोक-अलोक हैं। द्वीपकी अपेक्षा समुद्रका विस्तार जैसे बहुत बड़ा होता है वैसे ही लोक-अलोक-की अपेक्षा आपके ज्ञानका विस्तार बहुत अधिक है। पदार्थ अनन्त अवश्य हैं, परन्तु वे आपके अनन्त-ज्ञानकी अपेक्षा अल्प हैं। अनन्तके भी अनन्त भेद होते हैं ॥८॥

(सुरजबन्धः)

श्रितः श्रेयोऽप्युदासीने यत्त्वय्येवाऽऽनुते परः ।

क्षतं भूयो मदाहाने तत्त्वमेवार्चितेश्वरः ॥९॥

श्रितः श्रेय इति। श्रितः आश्रितः। श्रेयोपि पुण्यमपि। उदासीने सम्भवत्ये। अत्रापि शब्दः सम्बन्धनीयः। यत् यस्मात्। त्वयि युष्मद्। ईश्वरस्य प्रयोगः। भट्टारके एव मान्यग्रोत्थः। अस्तुते प्राप्नोति। परः जीवः। क्षतं विवरं क्षिप्तं दुःखम्। भूयो पुनरपि। मदस्य अहानं यस्मिन् स मदाहानः तस्मिन् मदाहाने। मदः रागद्वेषः। अहानं अपरित्यागः। यत् तस्मात्। त्वमेव मदानेव। अर्चितः पूजितः। ईश्वरः प्रधानः स्वामी। एतदुक्तं भवति—भट्टारके उदासीनेपि आश्रितः जीवः अस्तुते श्रेयः सरागे त्वद्व्यतिरिक्तोऽन्यत्र राजादिके जने पुनराश्रितः क्षतं दुःखमेव प्राप्नोति। तस्मात् भट्टारक एव अर्चितेश्वरः। मान्यः ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आप उदासीन हैं—रागद्वेषसे रहित हैं—तथापि आपकी सेवा करनेवाले—विशुद्ध चित्तसे आपका ध्यान करनेवाले—पुरुष कल्याणको ही प्राप्त होते हैं और अहंकारसे पूर्ण अथवा रागद्वेषसे पूर्ण अन्य कुदेवादिक-की सेवा करनेवाले पुरुष अकल्याणको प्राप्त होते हैं। अतः आप ही पूज्य ईश्वर हैं।

भावार्थ—जो निर्मल भावोंसे आपकी स्तुति करता है उसे शुभ कर्मोंका आस्रव होनेके कारण अनेक मंगल प्राप्त होते हैं और जो

१ अर्चितश्चास्वादीश्वरश्च अर्चितेश्वरः ।

कलुषित भावोंसे आपकी निन्दा कर अन्य देव या राजा महा-  
राजाकी सेवा करता है उसे अशुभास्रव होनेसे अनेक अम-  
गल एवं दुःख प्राप्त होते हैं जब कि आप स्तुति और निन्दा  
करनेवाले दोनोंपर ही एकसमान दृष्टि रखते हैं—एक को अच्छा  
तथा दूसरे को बुरा नहीं मानते । <sup>१</sup>

( गतप्रत्यागताङ्कः <sup>२</sup> )

भासते विभुताऽस्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः ।

याः श्रिताः स्तुत । गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया <sup>३</sup> ॥१०॥

भासते इति । अस्य श्लोकस्यादः <sup>४</sup> पंक्त्याकारेण विकिरण क्रमेण

१ सुहृत्स्थि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विधं स्वयि प्रत्ययवत्प्रकीर्यते ।

भवानुदामीन्यमस्तयोरपि प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेदितम् ॥६९॥

—बृहत्स्वयंभुस्तोत्र ।

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि स्थि स्वभत्वादिमुखरच दुःखम् ।

सदावदातषु त्रिरैकरूपस्तयोस्त्वमादर्शं ह्वावभासि ॥७०॥

—विद्यापहारस्तोत्र ।

१ श्लोकके अर्ध भागको पंक्त्याकारसे लिखकर क्रमपूर्वक पढ़ना  
चाहिये । इस अलंकारमें विशेषता यह है कि क्रम से पढ़नेमें जो अक्षर  
आते हैं वे ही अक्षर विपरीत क्रम—दूसरी तरफसे पढ़ने में भी आते  
हैं । इसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्ध भागको भी लिख कर पढ़ना चाहिये ।  
यहां यह गतप्रत्यागत विधि अर्धश्लोकमें है इसलिये इसे गतप्रत्या-  
गतार्धश्लोककार कहते हैं । जहां सम्पूर्ण श्लोक में गतप्रत्यागत विधि  
होती है वहां गतप्रत्यागत अथवा अनुलोम-प्रतिलोम अलंकार कह-  
याता है । कहीं कहीं गत-प्रत्यागतविधि श्लोकके एक एक पादमें भी  
होती है ।

२ 'नाऽनुस्वार-विसर्गौ च चित्रभङ्गाय संमतौ' । अर्थात् अनुस्वार और  
विसर्गकी दोषाधिकतासे चित्राङ्गहार भग्न नहीं होता ।

पठनीयम् । कमपाठे यान्यपराशि विपरीतपाठेपि तान्येवापराशि यतस्ततो  
गतप्रत्यागतार्हः । एवं द्वितीयाहमपि योज्यम् । एवं सर्वत्र गतप्रत्या-  
गतार्हः श्लोकाः दृष्टव्याः ।

भासते शोभते । विभोर्भावः विभुता स्वामित्वम् । तथा । अस्ताः  
क्षिप्ताः ऊनाः स्थूणाः प्रकाशिः ता विभुतास्तोनाः । न पुरुषः । स्तोता  
स्तुतेः कर्ता । सुवि लोके । ते तव । लभाः समवसृतीः, शसन्ताः  
दृष्टव्याः । यः यद् दावन्तरम् प्रयोगः । श्रिताः आश्रिताः । हे स्तुत  
पूजित । गीत्वा गेयेन । नु वितर्क । नृत्या स्तयेन गीताश्च वाः स्तुताश्च  
गीतस्तुताः । श्रिया लक्ष्म्या । श्रिता आश्रिताः वाः सभाः गीत्वा गीताः  
नृत्या स्तुताः संजाताः ना स्तोता पुरुषः भासते ॥१०॥

अर्थ—हे स्तुत ! आपकी स्तुति करनेवाला पुरुष पृथ्वी पर उन  
समवसरण-सभाओंको पाकर अत्यन्त शोभित होता है जो  
सभाएं अष्ट महाप्रतिहार्यरूप लक्ष्मीसे शोभित हैं, संगीतमय  
स्तोत्रोंसे जिनका वर्णन किया जाता है, श्रेष्ठ पुरुषोंके नमस्कार-  
से जो पूज्य हैं और जिन्होंने अपने वैभवसे अन्य सभाओंको  
तिरस्कृत कर दिया है ।

भावार्थ—आपके स्तवन करनेसे मनुष्य तीर्थङ्कर होता है,  
जिससे वह भी समवसरण सभाको पाकर आपके ही समान  
शोभित होता है । यह बात किसी अन्य आराध्यकी आरा-  
धनासे नहीं हो सकती; क्योंकि तीर्थङ्कर प्रकृतिका आस्रव केवली  
या अतःकेवलीके सम्पर्कमें रहनेसे ही होता है ॥१०॥

( श्लोकप्रमकः )

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतस्तु ते ।

चिराय भवते पीड्यमहोरुपुरवेऽुचे ॥११॥

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते ।

चिराय भवतेपीड्य महोरुपुरवे शुचे ॥१२॥

( शुभं )

स्वयं शमेति—द्वौ श्लोकावेतौ प्रथमार्थौ दृष्टव्यौ ।

स्वयं स्वतः । शमयितुं विनाशयितुम् । नाशं विनाशम् कर्म । विदित्वा ज्ञात्वा उपलब्धम् । समन्ततः सम्यग् नतः प्रयातः । तु सत्यर्थम् । ते तुभ्यम् । चिराय निश्चाय अक्षयपदनिमित्तं वा । भवते प्रभवते । भू सत्तायामित्यस्य भोः शब्दन्तस्य अयन्तस्य प्रयोगः । पीड्यं खदिघातम्, न पीड्यं अपीड्यम्, महः तेजः, अपीड्यं च तन्मदश्च तदपीड्यमहः, अपीड्यमहसः एकं अपीड्यमहोरकं, तथा उरुः महान् अपीड्यमहोरगुरुः तस्मै अपीड्यमहोरगुरवे अथवा अपीड्यमहोरश्च रगुरश्चासौ अपीड्यमहोरगुरुः तस्मै अपीड्यमहोरगुरवे । शुक् शोकः, न शुक् अशुक् तस्यै अशुक्चे । अशोकार्थं भवते तेन सम्बन्धः तदर्थं अवियं दृष्टव्यम् । अन्यत् सुगमम् । उत्तरश्लोके स्थितं क्रियापदमपेक्षते ॥११॥

स्वयमिति—अयः पुण्यम् शोभनः अयः स्वयः तं स्वयम् । शं सुखम् । अयितुं गन्तुम् । ना पुरुषः जीवः । अशं दुःखम् । विद् ज्ञान-  
वान् अथवा विचारवान् । इत्था गत्वा । सन् विद्यमानः । अतः अस्मात् कारणात् । स्तुते स्तुतिविषये । चिराय चिरेण अनन्तकालेन । अथवा अचिरेण तत्क्षणात् । किं संशयोयम् । भवते प्राप्नुते । भू प्राप्तावित्यस्य भोः आहवाह । इति अविज्ञानतस्यापि प्रयोगो भवति । अपि सम्भावने । हे ईक्ष्य पूज्य । महती उर्वी गौ वर्णी यस्यासौ महोरगुरुः, महोर-  
गुरेव रविः महोरगुरविः, तस्य सम्बोधनं हे महोरगुरवे । शुक् शुक्ले सर्वकर्मनिर्मुक्ते । एतदुक्तं भवति—तुभ्यं अशोकार्थं भवते अश्वत्थ-  
केवलज्ञानदीप्तये आत्मना समन्ततः ना पुरुषः प्रेक्षापूर्णकारी विनाशं विना-  
शयितुं मोक्षार्थं सुखं गन्तुं हे ईक्ष्य महोरगुरवे दुःखं गत्वा पुण्यमपि प्राप्नुते ॥१२॥

अर्थ—हे स्तुत्य ! हे दिव्यध्वनिरूप किरणोंसे शोभायमान सूर्य ! जो ज्ञानवान् पुरुष, विनाशको नष्ट करनेके लिये—अजर-

अमर पद पानेके उद्देश्यसे, अविनाशी—शोकरहित एवं निर्वाध-प्रताप और केवलज्ञानसे सम्पन्न आपकेलिये सम्यक्प्रकार शुद्ध भावोंसे नमस्कार करता है तथा सब कर्मोंको नष्ट करने वाले आपके स्तवनमें तल्लीन होता है वह दुःखोंको पाकर भी अन्तमें पुण्यस्वरूप-अविनाशी परमसुखको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक आपको नमस्कार करता है वह समस्त कष्टोंको बिता कर अन्तमें जन्म-मरणके कष्टको भी दूर कर अविनाशी मोक्ष-पदको प्राप्त होता है ॥११ १२॥

( प्रथमपादोद्भूतपरचाखँ काचरविरचितरत्नकोकः )

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः ।

ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततोततः ॥१३॥

ततोतीति—प्रथमपादे चान्यचराणि तानि सर्वाण्यचराणि परिच-माद् यत्र तत्र व्यवस्थितानि, नान्यानि सन्ति ।

तता विस्तोर्णा ऊतिः रत्ना तता चासावृतिश्च ततोति तस्या भावः ततोतिता । तुर्विशेषे । अति पूजार्थं वर्त्तमानो मि नि ति संज्ञो न भवति, अतएव केवलस्यापि प्रयोगः । किमुक्तं भवति—विशिष्ट-गूढितप्रतिपादन-त्वम् । ते तव युग्मवः प्रयोगः । इतः इदम् प्रयोग एवम् इत्यर्थः । केभ्यः तोतृतोतीतितोतृतः । अस्य विवरणं—तोतृता जानृता, कुतः तु गतौ सीञ्चि-कोथं धुः सर्वे गत्यर्था जानार्थं वर्त्तन्ते इति । ऊतिः रत्ना वृद्धिर्वा थव रक्षणे इत्यस्य धोः कथ्यन्तस्य प्रयोगः । तोतृताया ऊतिः तोतृतोतिः इति अवगमः प्राप्तिर्वा इण् गताविरत्यस्य धोः कथ्यन्तस्य प्रयोगः । तोतृतोतेः

१ इस श्लोकके प्रथम पादमें जो अक्षर हैं वे ही सब अक्षर भागो-के पादोंमें अहाँ-तहाँ व्यवस्थित हैं । अन्य अक्षर नहीं हैं । रत्नकोकी रचना मात्र 'तकार' व्यवधान अक्षरसे हुई है अतः यहाँ एक व्यवधान-विध अलंकार है ।



इतिः तोतुतोतीतिः ज्ञातृत्ववृद्धिप्राप्यामित्यर्थः । अथवा ज्ञातृत्ववृद्धि-  
विज्ञानमिति वा । तुदम्सोति तोतुयि तुद् घेरणे इत्यस्य धोः प्रयोगः  
तोतुतीतीतिः तोतुयि । तोतुयोतीति तोतुयि ज्ञानावरणादीनीतिः । तेभ्यः  
तोतुतोतीतितोतुतः । ततः सस्मात् । तातिः परिग्रहः परावृत्तत्वम् ।  
दृश्यते चाथं लोके प्रयोगः बुष्मत्तात्वा चयं वलामः बुष्मत्परिग्रहेत्यर्थः ।  
न तातिः अतातिः अतात्वा तता विस्तीर्णः । अतातितताः अपरिग्रहेषु  
महान्तो जाता इत्यर्थः । अतातिततेषु उता बद्धा उतिः रक्षा यस्य स  
आतातिततोतीतिः तस्य सम्बोधनं हे अतातिततोतोते । ततता विशालता  
प्रभुता त्रिलोकेशत्वमित्यर्थः । ते तत्र । तत् विशालं विस्तोषं उतं बन्धः  
ज्ञानावरणादीनां संश्लेषः । तत् च तदुत्तं च ततोतम् । तत् वस्यतीति  
ततोतताः तस्य सम्बोधनं हे ततोततः ॥१३॥

अर्थ—हे भगवान् ! आपने, विद्वानवृद्धिकी प्राप्तिकी रोकने  
वाले इन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे अपनी विशेष रक्षा की है—  
ज्ञानावरणादि कर्मोंकी नष्ट कर केवलज्ञानादि विशेष गुणोंको  
प्राप्त किया है । तथा आप परिग्रहरहित—स्वतन्त्र हैं । इसलिये  
पूज्य और सुरक्षित हैं । एवं आपने ज्ञानावरणादि कर्मोंके  
विस्तृत—अनादिकालिक सम्बन्धको नष्ट कर दिया है अतः  
आपकी विशालता—प्रभुता स्पष्ट है—आप तीनों लोकोंके स्वामी  
हैं ॥ १३ ॥

( एकाक्षरधिरक्षितैकैकपादः श्लोकः <sup>१</sup> )

येयायायाययेयाय नानानूनाननानन ।

ममाममाममाममिताततीतिततीतितः ॥१४॥

येयेति—येथः प्राप्यः अयः पुण्यम् येः ते येयायाः । आयः प्राप्तः  
अयः सुखं येषां ते आयायाः, येयायाश्च आयायाश्च येयायत्यायाः तैः  
येयः प्राप्यः अयः मार्गो यस्यासौ येयायायाययेयायः तस्य सम्बोधनं हे

१ इति श्लोकका प्रत्येक पादे एक-एक व्यञ्जन अक्षरसे बना है ।

येयायायायेयाय । नाना अनेक, अमूर्तं सम्पूर्णं, नाना च अनूनं च माना-  
नूने । आननं मुखकमलम्, अननं केवलज्ञानम्, आननं च अदनं च आन-  
नानने । नानानूने आनमानने यस्यासौ नानानूनाननाननः तस्य सम्बोधनं  
हे नानानूनाननानन । मम अस्मद्ः प्रयोगः । ममः मोहः दृश्यते च लोके  
प्रयोगः कामः क्रोधः ममत्वमिति । न विद्यते ममो यस्यासौ अममः तस्य  
सम्बोधनं हे अमम । आसो व्याधिस्तम् । आस क्रियापदम् । आस रोगे  
इत्यस्य घोः रूपम्, आसं आस । न मितः अमिता अपरिमिता । आततिः  
महत्त्वं । अमिता आततिर्यासां ताः अमिताततयः, इतयः व्याधयः,  
अमिताततयश्च ताः इतयश्च अमिताततीतयः, तासां ततिः संहतिः  
अमिताततीतततिः । इतिः गमनं प्रसरः । अमिताततीततसेः इतिः  
अमिताततीतततीतिः । तां तस्यतीति अमिताततीतततीतिताः । तस्य  
सम्बोधनं हे अमिताततीतततीतिः । किमुक्तं भवति—हे एवंमुख-  
विशिष्ट मम आसं रोगं आस विनाशय ॥१३॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका यह मोक्षमार्ग उन्हीं जीवोंको  
प्राप्त हो सकता है जो कि पुण्यबन्धके सन्मुख हैं अथवा  
जिन्होंने पहले पुण्यबन्ध कर लिया है । संभवसरणमें आपके  
चार मुख दिखाई देते हैं, आपका केवलज्ञान भी पूर्ण है—  
संसारके सब पदार्थोंको एक साथ जानता है । अद्यापि आप  
जमताभावसे-मोहपरिणामोंसे-रहित हैं तथापि संसार सगबन्धी  
अनेक बड़ी-बड़ी व्याधियोंको नष्ट कर देते हैं । हे प्रभो ! मेरे  
भी जन्म-मरणरूप रोगको नष्ट कर दीजिये ॥ १४ ॥

( पादाभ्याससर्वपादान्तयमकः, युग्मकयमकः )

गायतो महिमायते गा यतो महिमाय ते ।

पद्मया स हि तायते पद्मयासहितायते ॥१५॥

गायतो मेति—यादभूतः प्रथमः पादः तादभूतो द्वितीयोपि ।

वादाभूतस्तृतीयः तादृशश्चतुर्थोऽपि अयते इति सर्वपादेषु समानं यतः अतो  
भवति पादाभ्याससर्वपादाभ्यासयमकः ।

गायतः स्तुतिं कुर्वतः । कै गै रै शब्दे इत्यस्य धोः शब्दस्य  
प्रयोगः । महिमा माहात्म्यम् । अयते गच्छति । गाः वाणोः, गो इत्यस्य  
शसन्तस्य रूपम् । यतः यस्मात् । महिमानं अयते महिम्नायते स्म वा  
महिमायः तस्य सम्बोधनं हे महिमाय । ते तव । पद् पादः । इत्यते च  
पञ्चदशस्य लोके प्रयोगः गौः पदा ॥ सृष्टव्या । मया अस्मद् भान्तस्य  
प्रयोगः । सः तद् भान्तस्य रूपम् । हि निपातोऽयं स्फुटार्थः । तायते  
विस्तार्थते । तस्य पादस्य गुणाः विस्तार्यन्ते तेषां विस्तारे सति पादस्यापि  
विस्तारः कृतः । गुणगुणिनोरमेदः । पञ्चया लक्ष्या सहिता आयतिः  
शरीरायामः यस्यासौ पञ्चयासहितायतिः गमकत्वात्स्वविधिः । यथा देव-  
यत्तस्य गुरुकुलम् । यथायं गुरुशब्दोन्मयपेक्षते एवं सहित शब्दोऽपि ।  
अथवा पञ्चेषु यातीति पञ्चयाः । सह द्वितेन धर्तव्य इति सहिता ।  
आयतिः आशा । सहिता आयतिर्यस्यासौ सहितायतिः पञ्चयाश्चासौ  
सहितायतिरथ पञ्चयासहितायतिः । तस्य सम्बोधनं हे पञ्चयासहितायते ।  
किमुक्तं भवति—हे महिमाय पञ्चया सहितायते ते पदं गायतः महिमा  
अयते गाः यतः ततो मया न हि पद् तायते विस्तार्थते स्तुयते  
इत्यर्थः ॥१५॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप स्वयं माहात्म्यको प्राप्त हैं, आपका  
शरीर भी लक्ष्मीसे—अनुपम सौन्दर्यसे—सहित है । अथवा  
आप कमलोंपर विहार करते हैं—विहार करते समय देव लोग  
आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं—और आपकी  
आज्ञा भव्यजीवोंका शिक्ष करने वाली है । हे प्रभो ! जो आपका  
गुणगान करता है उसकी वाणीको महत्त्व प्राप्त होता है—

१ महिमा गाः अयते इत्यनेन महिम्नः स्तुतिविषयवस्तुमुक्तम् ।

उसकी वाणी अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण होती है—अतः मैं भी आपके चरणकमलोंको—उनके गुणोंको—विस्तृत करता हूँ—उनकी स्तुति करता हूँ ।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी स्तुति करनेसे पुरुषके वस्त्रोंमें वह शक्ति निहित होती है जिससे वह सर्वोपकारी उपदेश देनेमें—दिव्यध्वनि खिरानेमें—समर्थ होता है अतः आचार्य समन्तभद्र भी भगवान् वृषभनाथके चरणोंकी स्तुति करनेमें प्रयुक्त हुए हैं ॥ १५ ॥

### अजित-जिन-स्तुतिः

( श्लोक्यमकः )

'सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धनः ।

सतां तमो हरन् जयन् महो दयापराजितः ॥१६॥

सदेति—सत् शोभनम् । अक्षर अनक्षर । न विद्यते जरा वृद्धत्वं वक्ष्यासाक्षरः तस्य सम्बोधनं हे अक्षर । अजित द्वितीयतीर्थकरस्य नाम । प्रभो स्वामिन् । दयस्व-दय दाने इत्यस्य धोः लोटन्तस्य रूपम् । वर्द्धनः सम्बद्धः एवं यतः । सतां अभ्यन्तोकानाम् । तमः अज्ञानम् । हरन् नाशयन् । जयन् जयं कुर्यान् इत्यर्थः । महः तेजः वेदज्ञानम्, दयस्व इत्यनेन सम्बन्धः । दयापर दयाप्रधान । न जितः अजितः । किमुक्तं भवति—अग्रे सर्वे विताः त्वमजितः कतः हे अजित भद्वारक महः सद्ज्ञानं दयस्व ॥१६॥

अर्थ—उत्तम अविनाशी और जरा रहित हे अजितनाथ प्रभो ! आप कृपा आदि गुणोंसे बधमान हैं, साधुपुरुषोंके अज्ञानअन्धकारको नष्ट करनेवाले हैं, विजयी हैं और काम-क्रोध आदि शत्रुओंसे अजित हैं—काम-क्रोध आदि दोषोंसे

१ प्रमाण्याका छन्दः 'प्रमाण्याका जरी जमी' इति जज्ञयात् ।

रहित हैं। हे दयालु देव ! वह दिव्य तेज—केवलज्ञान—मुझे भी दीजिये ( जिसके प्रतापसे आप परमपूज्य उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हो ) ॥ १६ ॥

सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः ।

स तान्तमोह रंजयन् महोदयापराजितः ॥१७॥

सदक्षेति—सह ब्रह्मैर्विश्वकर्तृः सह वर्त्तन्त इति सदक्षः । सदक्ष-  
श्च ते राजानश्च सदक्षराजानः तैः राजितः शोभितः सदक्षराजराजितः  
तस्य सम्बोधनं हे सदक्षराजराजित । प्रभायाः विज्ञानस्य उदयो वृद्धि-  
र्यस्यासौ प्रभोदयस्तस्य सम्बोधनं हे प्रभोदय । स्वेषां स्वानां वा वर्द्धनः  
वर्द्धनः स्ववर्द्धनस्त्वम् । अथवा स्ववर्द्धनः अस्माकम् । स एवं विशिष्ट-  
स्त्वं । तान्तः विनष्टः मोहः मोहनीयकर्म यस्यासौ तान्तमोहः तस्य  
सम्बोधनं भो तान्तमोह । रंजयन् अनुरागं कुर्वन् इत्यर्थः । महान् पृथुः  
पूज्यः उदयः उद्भूतियेषां ते महोदयाः देवेन्द्रचक्रेश्वरादयः । अपरान्  
अन्तःशयन् मोक्षादोन् आसमन्तात् जयंतीति कर्त्तरि क्तिप् अपराजितः ।  
महोदयाश्च ते अपराजितश्च ते महोदयापराजितः । अथवा हन्तः समाप्तः  
तान् महोदयापराजितः कर्मणि इषो बहुत्वम् । समुदायार्थः—हे अजित  
भङ्गायक सहस्रराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः त्वं सः तान्तमोह रंजयन्  
महोदयापराजितः महः दयस्व ॥१७॥

अर्थ—समर्थ अथवा चतुर राजाओंसे शोभित ! केवलज्ञान-  
से सहित ! और मोह-विचारसे शून्य ! हे अजित देव ! आप  
आत्मीय जनोंको बढ़ाने वाले हैं—उन्नत पदपर पहुँचाने वाले  
हैं—और महान् ऐश्वर्यसे सहित इन्द्र चक्रवर्ती आदि तथा काम-  
क्रोध आदि अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतने वाले बड़े-बड़े मुनियों  
को अनुरक्ति-आनन्दित करते हैं । हे प्रभो ! वह सम्यग्ज्ञान  
मुझे भी दीजिये जिसके प्रसादसे आप इस उत्कृष्ट दशाको

प्राप्तं हुए हो<sup>१</sup> ॥१७॥

शम्भव-जिन-स्तुतिः

(अष्टाश्रमः)

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।

नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीभुवि यस्य च ॥ १८ ॥

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयादरुचा ।

स्वया वामेश पाया मा नतमेवाचर्य शंभव ॥१९॥

( शुभ्रं )

नचेन इति—नच प्रतिषेधरुचनम् । हनः स्वामी । नच प्रतिषेधे । रागः आदिष्वेषां ते रागादयः तेषां चेष्टा कायम्यापारः रागादिचेष्टा । वा समुच्चये । यस्य वैजस्य सव । पापं गच्छतीति पापगा । चेष्टा च पापगा यस्य नचास्ति । नो नच । वामैः सुद्रैः मिथ्यादृष्टिभिः । श्रीयते आश्रीयते । अपारा अगाधा अर्थनिधितः । यस्य ते । नयस्य आगमस्य त्वदभिप्रायस्य श्रीः लक्ष्मीः नयश्रीः । भुवि लोके । हे शंभव पूर्वेविशिष्टस्त्वं मा पायाः । उत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ॥ १८ ॥

पूतस्वेति—पूतः पवित्रः सु सुष्ठु अनधमः<sup>२</sup> गणाधराधनुष्वित्तः आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्त्वं पूतस्वनवमाचारम् । तन्वा शरीरेण आपातं आगतम् । भयात् संसारभीतेः । रुचा तेजसा । स्वया अस्मीषया आत्मोचतेजसेत्यर्थः । वामाः ममानाः प्रधा-

१. 'महोदयस्क' इति पूर्वश्लोकेगतकर्मक्रियाभ्यां सम्बन्धः । अथवा 'नववद्ध' नः' इत्यस्य 'सु + अष + ऋद्ध + नः' इति ऋद्धे विधाय 'हे ऋद्धसम्पन्न ! नोऽस्मान्; स्ववसुष्टु रचे'—त्यर्थकरणेन न पूर्वेण श्लोकेन सहान्वय-योजनप्रयासः करणीयः ।

२ न अनधमः अनधमः अनधम इत्यर्थः । "निकृष्टप्रतिकृष्टावरेफद्याप्यवमाधमाः" "समाः" इत्यमरः ।

नेपि वामेशब्दः प्रवर्तते । वामानामीशः स्वामी वामेशः तस्य सम्बोधनं हे वामेश । पायाः रक्ष । पा रक्षणे इत्यस्य धोः आशीर्लिङ्-तस्य प्रयोगः । मा अस्मद्-इवन्तस्य रूपम् । नतं प्रयात्तम् । एकैः प्रधानैः अर्च्यः पूज्यः एकाच्यः, अथवा एकश्चासावर्ध्यश्च एकाच्यः तस्य सम्बोधनं हे एकाच्य । शम्भवः तृतीयतीर्थकरमहारकः तस्य सम्बोधनं हे शम्भव ! किमुक्तं भवति—यस्य न हनः रागादिचेष्टा च पापगः यस्य नारित यस्य नास्तीयते वामैः नयश्रीः हे शम्भव त त्वं स्वतेजसा मा आगतं शोभनाचारं नतं पायाः पृथुक् भवति ॥ १६॥

अर्थ—जिनके पाप बन्ध करानेवाली रागादिचेष्टाओंका सर्वथा अभाव हो गया है और जिनकी अपार नयलक्ष्मीको भूमितलपर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं हो सकते ऐसे, इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषोंके नायक ! अद्वितीय पूज्य ! हे शंभवनाराय जनेन्द्र ! आप सबके स्वामी हैं—रक्षक हैं, अतः अपने दिव्य तेजद्वारा मेरी भी रक्षा कीजिये । मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है । मैं संसारके दुःखोंसे डर कर शरीरके साथ आपके समीप आया हूँ ।

भाषार्थ—‘मैं किसीका भलाया बुराकरूँ’ इस तरह राग-द्वेषसे पूर्ण इच्छा और तदनुकूल क्रियाएँ यद्यपि वीतराग के के नहीं होती तथापि वीतरागदेवकी भक्तिसे भक्त जीवोंका स्वतः भला हो जाता है, क्योंकि वीतरागकी भक्तिसे शुभ कर्मोंमें अनुभाग ( रस ) अधिक पड़ता है, कलतः पाप कर्मोंका रस घट जाता अथवा निर्बल पड़ जाता है और अन्तराय कर्म बाधक न रहकर इष्टकी सिद्धि सहज ही हो जाती है । इसी नयदृष्टिको लेकर अलंकारकी भाषामें आचार्य समन्त-भद्र भगवान् शंभवनारायसे प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं संसारसे डर कर आपकी शरणमें आया हूँ, मेरा आचार पवित्र है और मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ अतः आप मेरी रक्षा कीजिये,

क्योंकि आप इस कार्यमें—समर्थ हैं—आपकी शरणा में पहुँचनेसे रक्षाकार्य स्वतः ही बिना आपकी इच्छाके बन जाता है ॥ १८, १९ ॥

( अर्द्धभ्रमः )

धाम स्वयमेयात्मा मतयादभ्रया श्रिया ।

स्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रम ॥२०॥

धामेति—धाम अवस्थानं तेजो वा । शोभनः धामः पुण्यं सुखं वा पश्चिन् तत् स्वयम् । अथवा स्वयं आत्मना । अमेयः अपरिमेयः आत्मा ज्ञानं स्वभावो वा यस्यासौ अमेयात्मा । मतया अभिमतया । अर्द्धभ्रया<sup>१</sup> । भद्रया । श्रिया लक्ष्म्या । स्वया<sup>२</sup> आत्मोपया । हे जिन परमेश्वर । विधेयाः कुरु । वि पूर्वः धाम करोत्यर्थे<sup>३</sup> वचंते । मे मम । यत् ज्ञानम् न विद्यते अन्तो बिनाशो यस्य तदनन्तं धाम । विभ्रमः मोहः न विद्यते विभ्रमो यस्यासौविभ्रमः । तस्य संग्रोधनं हे अविभ्रम । पृत-  
पुक्तं भवति—हे जिन अविभ्रम स्वकीयदा श्रिया धाम अवस्थानं यद-  
नन्तं मे मम तत् विधेयाः ॥ २० ॥

अर्थ—हे मोहरहित शंभवनाथ जिनेन्द्र ! आप अपनी अभिमत विशाल लक्ष्मीसे ही अमेयात्मा—अनन्तज्ञानी हुए हो अतः आप मुझे भी उत्तम पुण्य या सुखसे सहित वह धाम—स्थान, तेज अथवा ज्ञान प्रदान कीजिये जिसका कभी अन्त न हो ॥ २० ॥

अभिनन्दन जिन स्तुतिः

अर्द्धभ्रमः ।

अतमः स्वन्तारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः ।

महाश्रीमान्जो नेता स्वव मामभिनन्दन ॥२१॥



अतम इति—तमः अज्ञानं न विद्यते तमो यस्यासावतमाः तस्य सम्बोधनं हे अतमः । स्वतः आत्मनः नेताः प्रकृताः स्वस्मिन् नेताः वा स्वतः । आरक्षणशीलः आरक्षी । स्वतन्त्रानामारक्षी स्वतन्त्रारक्षी । तमो मोहं च हन्ति जहातीति तमोहा त्वं वन्दनेश्वरः वन्दमायाः ईश्वरः स्वामी ध्वनेश्वरः । भवती धात्री श्रीश्च महाश्रीः महाश्रीः विद्यते यस्यासौ महाश्रीमात्र । न जायते इत्यजः । नेता नायकः । स्वयं रक्ष सुपूर्वस्य श्वररक्षणे इत्यस्य धोः लोहन्तस्थ रूपम् । मां अस्मदः इवन्त-स्य रूपम् । अभिनन्दनः चतुर्युजिनेश्वरः तस्य सम्बोधनं हे अभिनन्दन । किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन अतमः स्वतन्त्रारक्षी सन् त्वं तमोहा सन् इत्येवमादिः सन् मां अभिरक्ष ॥ २१ ॥

अर्थ—हे अज्ञानान्धकारसे रहित ! हे अभिनन्दननाथ जिनेन्द्र ! जो आपको नमस्कार करते हैं उनकी आप रक्षा करते हैं । आप मोहसे रहित हैं, वन्दनाके ईश्वर हैं—सबके बन्ध हैं, अनन्त चतुष्टय तथा अष्टप्रातिहार्यरूप लक्ष्मीसे सहित हैं, अज हैं—भावो भवप्रहरणरूप जन्मसे रहित हैं—और नेता हैं—मोक्ष-मार्गके उपदेशक हैं; अतः मेरी भी रक्षा कीजिये—मुझे भी संसारके दुःखोंसे बचाइये ॥ २१ ॥

(गर्भे महाविशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरश्चक्षुः<sup>१</sup> ।)

नन्धनन्तद्वयं नन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन ।

नन्दनद्विरनम्रो न नम्रो नष्टेऽभिनन्दन न ॥ २२ ॥

१ चक्राकार गोल रचना बनाकर उसके बीचमें स्वल्प गोलाकार गर्भ-चक्रमध्यकी रचना करे । फिर चक्रमध्यसे चारों दिशाओंमें चार आरोंको रचना करे । इस अक्षंकारमें गर्भ और चार महादिशाओंके अन्तिम अक्षर एक समान होते हैं । चित्र परिशिष्टमें देखिये । यह अक्षंकार इस पुस्तकके १३वें और १४वें श्लोक में भी है । २ नन्दी + अन्तर्लिङ्ग + अभि-

तन्मन्थनन्तेति—चक्रं सूत्रं व्याख्येयं गर्भं चक्रमध्ये चतसृषु  
महादिक्षु च एकाक्षरैः समानाक्षरैर्भविष्यन् । चक्रमध्ये नकारं कृत्वा,  
तस्योर्ध्वं बहिर्भागे अरमध्ये 'न्ध' न्यस्य तस्याप्यूर्ध्वं महादिशि नकारं  
संस्थाप्य, नेमिमध्ये दक्षिणदिशि 'न्तर्ध्व' अक्षरे न्यसनीये । पुनर्महादिशि  
नकारं संस्थाप्य अरमध्ये 'न्ते' न्यस्य, गर्भे पुनरपि नकारो न्यसनीयः ।  
पुनरपि गर्भे नकारः । अरममध्ये 'न्ते' न्यस्य, महादिशि नकारः । एवं  
सर्वत्र तस्य संहतिः । सप्ताक्षराणि समानानि गर्भाक्षरेणैवैकेन लभ्यन्ते ।  
अरममध्ये चत्वार्यक्षराणि अन्यानि समानानि लभ्यन्ते । महादिक्ष्वपि  
चत्वार्यक्षराणि अन्यानि समानानि लभ्यन्ते एवमेतानि पञ्चदशाक्षराणि  
चक्रस्थितसप्तदशाक्षराणि गृहीत्वा श्लोकः सम्पद्यते । एवं सर्वे चक्ररलोका  
दृश्यन्ते ।

अस्यार्थः कथ्यते—मन्दो बुद्धिः स्नेह्यास्तोति नन्दी अथवा  
नन्दनशोको नन्दी अशुभ्यपि शीघ्रे णिन् भवति । अनन्ता ब्रह्मिः  
विभूतिर्वस्यासौ अनन्तर्हिः । न विद्यते अनन्तो विनाशो दस्यासायनन्तः  
मन्दी चासौ असन्तर्हिरथ मन्थनन्तर्हिः सचासायनन्तरथ नन्यनन्त-  
र्ध्वमन्तः तस्य सम्बोधनं हे नन्यनन्तर्ध्वनन्त । इन् स्वामिन् । मन्था  
स्तोता । इन् स्वामी, सम्प्रयत इत्यध्याहार्यः । ते तथ । हे अभिनन्दन ।  
मन्थना क्रूर्यस्यासौ नन्दनर्हिः । न नञः अनञः । न प्रतिषेधे । किमुक्तं  
भवति—प्रबुद्धोर्ध्वः पुरुषः स तव अनन्तो अप्रयातः न किन्तु नञ एव ।  
नञ प्रयातः यः स नञो विनष्टो न । अभिनन्ध त्या अभिनन्ध इत्यध्या-  
हार्यः । किमुक्तं भवति— हे अभिनन्दन ते मन्था इमः सम्प्रयते कुतः  
मन्दनर्हिः यतः अप्रयातो नास्ति ते अभिनन्ध च यो नञ ॥ विनष्टो  
न यतः ॥ २२ ॥

अतः, पूर्वां कर्मधान्ये सति सम्बुद्धौ रूपम्, 'इन्' इति सम्बुद्धौ पृथक्  
पदम् । 'मन्ता + इन्' इति पदद्वयम् । 'त्वा' इति पदमध्या-  
हार्यम् ।

अर्थ—समृद्धि-सम्पन्न, अनन्त ऋद्धियोंसे सहित और अन्तरहित है अभिनन्दन स्वामिन् ! आपको नमस्कार करने वाला पुरुष (आपके ही समान सबका) ईश्वर हो जाता है। जो बड़ी बड़ी ऋद्धियोंके धारी हैं वे आपके विषयमें अनम्र नहीं हैं—आपको अवश्य ही नमस्कार करते हैं और जो आपकी स्तुति कर नसक रहे हैं वे कभी नष्ट नहीं होते—अवश्य ही अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌को नमस्कार करते हैं वे अनेक बड़ी ऋद्धियोंको प्राप्त होते हैं और अन्तमें कर्मोंका क्षय कर अविनाशी मोक्षपद पा लेते हैं। इसलिए आचार्यने ठीक ही कहा है कि आपको नमस्कार करनेवाले पुरुष आपके ही समान संसारके ईश्वर हो जाते हैं ॥२१॥\*

(गर्भे महाविशि चैकाग्रश्चक्रलोकः)

नन्दनश्रीर्जित त्वा न<sup>१</sup> नत्वा<sup>२</sup> नर्द्धया स्वनन्दि न<sup>३</sup> ।

नदिनस्ते त्रितन्ता न<sup>४</sup> नन्तानऽन्तोमिनन्दन ॥२३॥

नन्दनेति—नन्दना ज्ञासी श्रीश्च नन्दनश्रीः पुरुषो वा । हे जिन । त्वा युष्मदः इवन्तस्य प्रयोगः । न न नत्वा किन्तु नत्वा । नर्द्धया धिभूत्या सह स्वनन्दि, क्रियाविशेषम् । स्वनन्दि यथा भवति तथा स्वहर्षं यथा भवति । नन्दिनः समृद्धिमतः । ते सच । त्रितन्ता च विशेषनन्ता । न न नन्ता स्तोता । अन्तः अविनन्दनः सिद्धः सम्पद्यते यतः । हे अभिनन्दन । किमुक्तं नवति—हे अभिनन्दन जिन नन्दिनस्ते नन्दनश्रीः

॥ नारयवसुतं सुवनभूषण भूतनाथ भूतैषु खेसु वि भवन्तमभिपूजन्तः ।  
सुक्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा भूत्याक्षितं च इह नात्मसमं करोति ॥

—भक्त्यामरस्त्रोत्रे मानतुंगा ।

१-१, २-२ द्वौ चक्र शब्दौ प्रकृतार्थस्य दार्ढ्यं सूचयतः ।

कदम्बा सह स्वा न नत्वा विनन्द्य च तव न न यस्मात् नन्ता  
सर्वोपि अनन्तसिद्धः सम्पद्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—हे अभिनन्दन जिन ! आप अनन्त-चतुष्टयरूप  
समृद्धिसे सुशोभित हैं। जो समृद्धिशाली पुरुष प्रसन्नचित्त  
होकर अपनी विभूतिके साथ आपकी पूजा करता है—आपको  
नमस्कार करता है—वह अवश्य ही अनन्त हो जाता है—  
जन्ममरणसे रहित सिद्ध हो जाता है ॥२३॥

( गर्भमहाविशैकाक्षरचक्रश्लोकः )

नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोऽनत्वाभिनन्दन ।

नन्दनस्वर नत्वेन<sup>१</sup> नत्वेन<sup>२</sup> स्यञ्च नन्दनः ॥२४॥

नन्दनं त्वेति—नन्दनं वृद्धिकरं । त्वा युष्मदः इवन्तस्य रूपम् ।  
आप्य आप्य । नष्टो विनष्टो न । नष्टो विनष्टोऽनत्वा अस्तुत्वा । हे  
अभिनन्दन । नन्दनः प्रीतिकरः स्वरो बचनं यस्यासौ नन्दनस्वरः तस्य  
सम्बोधनं हे नन्दनस्वर । त्वा इत्यध्याहार्यः । त्वा नत्वा स्तुत्वा । इमं  
स्मामिन् । ननु एनः पापम् । एवम् । विनाशयन् न नन्दनः किन्तु नन्दन  
एव । इति नञी प्रकृतमर्थं गमयतः । किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन त्वा  
नन्दनं आप्य न नष्टः यो नष्टः सः अनत्वेन, त्वा नत्वा एनः स्यन् न तु न  
नन्दनः किन्तु नन्दन एव ॥२४॥

अर्थ—हे मधुरभाषी अभिनन्दन जिन ! आप केवल-  
ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न हैं। आपको पाकर संसारमें कोई भी  
जीव नष्ट नहीं हुआ—आपके चरणकमलोंका आश्रय पाने-  
वाला हरएक प्राणी अवश्य ही अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त

१ 'नत्वा + हन्' इति पदच्छेदः । २ 'ननु + एनः—पापमिति पदच्छेदः ।

हो जाता है। संसारमें नष्ट बड़ी दुष्ठा है—जन्म-मरणके दुख बड़ी बठा रहा है—जिसने (हृदय से) आपको नमस्कार नहीं किया। हे स्वामिन् ! जो आपको नमस्कार कर दुष्कर्मोंको—पापोंको—नष्ट करता है वह अवश्य ही ज्ञानादि गुणोंसे वर्धमान या सम्पन्न हो जाता है।

भावार्थ—जिनका हृदय आपकी भक्तिसे उज्ज्वल होता है वे ही जीव दुष्कर्मोंका क्षय कर उच्च अवस्थाको प्राप्त होते हैं—आत्मासे परमात्मा होजाते हैं—और वे ही जीव अन्तमें सब कर्मोंका विनाश कर मुक्त अवस्थाको प्राप्त होते हैं—संसारके दुःखोंसे पूर्णतया छूट जाते हैं ॥ २४ ॥

### सुमति-जिन-स्तुतिः

(समुद्गकयमकः ।)

देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः सुमते ! हितः ।

देहि नोजयिनः<sup>१</sup> श्रेयः स दातः सुमतेहितः ॥२५॥

देहीति—यादभूतं पूर्वाक्ष<sup>२</sup> परचाक्षमपि तादभूतमेव समुद्गक इव समुद्गकः ।

देहिनः प्राणिनः । जयिनः जयनेशीलस्य । कर्त्तरि वा । श्रेयः श्रेयणीयः । सदा सर्वकालम् । अतः अस्माकं लोः हे सुमते । हितः स्वम् । सुमतिरिति पञ्चमतीर्थस्वरूपस्य नाम । देहि ह्युदात्तं दाने इत्यस्य धोः लोपन्तस्य रूपम् । नः अस्माकम् । न जायते इत्यञः । इन् स्वामिन् । श्रेयः सुखम् । स एषं विशिष्टिस्त्वम् । हे दातः दानशील । मत्तं भागमः

१ नः + अञः + इन् इति पठ्यध्वेयः ! अञ्ज शब्दः स्वौजसमौक्षिति सुपत्ययः । तस्युचोहरिति स्त्वम् । 'भो भगो अधी अपूर्वस्य भोऽक्षि' इति रोर्वादेशः । लोपः शाकल्यस्येति विकल्पेन यकारलोपः । ततो नात्र विकल्पत्वात्स्लोपः ।

ईहितं चेष्टितम् । मत्तं च ईहितं च मतेहिते शोभने मते हिते यस्यासौ सुम-  
तेहितः । किमुक्तं भवति—यो देहिनः श्रेयः यो वा दानशीलः यो वा  
सुमतेहितः हे सुमते स्व त्वं अतः देहि नः श्रेयः ॥२५॥

अर्थ—हे सुमति ! आप कर्मरूप शत्रुओंको जीतने-  
वाले प्राणियोंके उपासनीय हैं—जो प्राणी आपने कर्मरूप शत्रुओं-  
को जीतना चाहते हैं वे अवश्य ही आपकी उपासना करते हैं  
( क्योंकि आपकी उपासनाके बिना कर्मरूप शत्रु नहीं जीते  
जा सकते ) आप सदा उनका हित करनेवाले हैं, आपके द्वारा  
प्ररूपित आगम और आपकी चेष्टाएं उत्तम हैं । आप अज हैं—  
जन्म-मरणकी व्यथासे रहित हैं, सबके स्वामी हैं । हे दानशील  
भगवन् ! मुझे भी मोक्षरूप कल्याण प्रदान कीजिये ॥२५॥

( चक्ररत्नोक्तः<sup>१</sup> )

वरगौरतनुं देव वंदे नु त्वाक्षयार्ज्जव<sup>२</sup> ।

वर्जयार्तिं त्वामार्याय वर्यमानोरुगौरव ॥२६॥

वरगौरैति—वरा श्रेष्ठा गौरी उत्तमकान्धननिभा तनुः शरीरं  
यस्यासौ वरगौरतनुः अतस्तं वरगौरतनुं । हे देव भट्टारक । वन्दे स्तौमि ।  
नु अत्यर्थम् । त्वा भट्टारकम् । त्वयः विनाशः आर्जवं कञ्जत्वम्, अपेक्षा-  
पूर्वकारित्वमित्यर्थः । त्वयश्च आर्जवं च वरार्जवे न विद्योते त्वयार्जवे  
यस्यासावचार्जवः तस्य सम्बन्धनं हे अक्षयार्जव । वर्जय निराकुरु ।

१ इसकी रचना २२ वें श्लोकके समान है, उसमें गर्भ और  
चार महाविद्याओंके अन्तिम अक्षर एक समान थे परन्तु इसमें महा-  
विद्याओंके अक्षर भिन्न हैं । यह अक्षरकार इस ग्रन्थके २३ और २४  
शब्दोंके श्लोकोंमें भी है । चित्र परिशिष्टमें देखिये ।

२ 'देवा + अक्षयार्ज्जव' इति पदच्छेदः । अक्षयोऽविनश्यतः आर्जवो-  
ऽप्रापित्व लक्षणो धर्मो यस्य स तत्सम्बोधनम् ।

अर्चिं पीडाम् । त्वं आर्यं योगिन् । नः हृदयध्याहार्यः तेन सम्बन्धः ।  
 नः अस्मात् । अथ रक्ष । हे अर्यं प्रधान । अमानोरुगौरव ।  
 अमानं अपरिमार्गं उरु महत् गौरवं गुरुत्वं यस्य सः अमानोरुगौरवः तस्य  
 सम्बोधनं हे अमानोरुगौरव । एतदुक्तं भवति—हे देव त्वा वन्दे ।  
 अस्माकं अर्चिः वर्जय । अस्मात् रक्ष च ॥२६॥

अर्थ—हे विनाश और अविवेकसे रहित ! ( अथवा हे  
 अविनाशी आर्जव धर्मसे सहित ! ) हे आर्य ! हे सर्वोत्तम ! हे  
 अपरिमित-विशाल गौरवसे युक्त ! सुमतिवेव ! जिनका शरीर  
 तपाये हुए सुवर्णके समान अत्यन्त गौर वर्ण है ऐसे आपके लिये  
 मैं ममस्कार करता हूँ । आप मेरे जन्म-मरणके दुःख नष्ट कीजिये  
 तथा संसारके दुःखोंसे मेरी रक्षा कीजिये ॥ २६ ॥

### पञ्चप्रभ-जिन-स्तुतिः

( अर्द्धभ्रमः )

अपापापदमेवश्रीपादपञ्च प्रभोऽर्द्धय ।

पापमप्रतिमानो मे पञ्चप्रभ मतिप्रद ॥२७॥

अपापेति—पापं पुराकृतं दुष्कृतम् । आपत् अन्यकृतशारीरमान-  
 सङ्कुलम्, पापं च आपन्न पापापदौ न विद्येते पापापदौ ययोस्तौ अपा-  
 पापदौ । अमेया अपरिमेया श्री सर्वभूतः ययोस्तौ अमेयश्रियो । अपा-  
 पापदौ च शत्रुमेवश्रियो च तौ अपापापदमेवश्रियौ । पादादेव पञ्चौ  
 पादपद्मौ । अपापापदमेवश्रियौ तौ पादपद्मौ यस्यास्तौ अपापापदमेवश्री-  
 पादपद्मः तस्य सम्बोधनं हे अपापापदमेवश्रीपादपद्म । प्रभो स्वामिन् ।

अर्थ—हिसब चिन्ताशय । पापं दुष्कृतम् । अप्रतिभा अनुपमा आभा दोषि-  
रस्यासाधप्रतिमाभः अनुपमतेजाः । मे मम । पद्मप्रभ घण्ट सीर्थंकर ।  
मतिं सद्विज्ञाने प्रददातीति मतिप्रदः तस्य सम्बोधनं हे मतिप्रद । एत-  
नुत्वं भवति—हे पद्मप्रभ मम पापं क्षम्य । कन्यानि क्षमाणि पदानि  
तस्यैव विशेषणानि ॥२७॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चरणकमल पूर्वसंचित पापकर्मसे  
रहित हैं, आपत्तियोंसे शून्य हैं, और अपरिमित लक्ष्मी के—  
शोभाके-आधार हैं । तथा आपस्वर्य भी अनुपम आभासे—  
तेजसे सहित हैं । हे सम्यग्ज्ञानके देनेवाले पद्मप्रभ जिनेन्द्र !  
मेरे भी पापकर्म नष्ट कीजिये ।

भावार्थ—आपके निष्पाप—पवित्र चरणकमलोंके आश्रयसे  
मनुष्यको वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह अपने  
समस्त पापकर्म तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त हुई आपत्तियोंको  
नष्टकर अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित होजाता है और तब  
वसकी आत्मा अनन्द तेजसे प्रभासित हो उठती है ॥२७॥

( गतप्रत्यगात्पादयमकरलोकः )

वंदे चारुर्चां देव भो विद्याततया विभो ।

त्वामजेय यजे मत्वा तमितांतं ततमित ॥२८॥

वन्दे इति—प्रथमपादस्याचरचतुष्टयं क्रमेणाजित्य पठित्वा पुन-  
रपि तेषां शुक्लमेण पाठः कर्तव्यः । क्रमपाठे मान्यचराणि विपरीत-  
पाठेऽपि लाभेव । एवं सर्वे पादा द्रष्टव्याः ।

वन्दे नौमि । चार्चो शोभया स्मृ दोष्निर्भक्षितार्चो येषां ते चारुरुचः  
अतस्तेषां चारुरुचस्तु । देव भो महारक ! विद्याततया विद्यातस्य भावो



विद्यातया तथा विद्याततया<sup>१</sup> धृष्टत्वेन । विभो प्रभो । त्वाम् । अजेयः न जीयत इत्यजेयः तस्य सम्बोधनं अजेय । यजे पूजये । मत्वा विद्यार्थं । तमितः नष्टः अन्तः कृत्यो यस्यासौ तमितान्तः तं तमितान्तम् । तत् प्रतिपादितं अमितः अमेयं वस्तु येनासौ तत्तमितः तस्य सम्बोधनं हे प्रत्तमित । पृष्ठदुक्तं भवति—भो आहूतार्थां देव त्वां वन्दे यजे च विद्यात-तया । अग्न्यान्वस्यैव विशेषणानि ॥ २८ ॥

अर्थ—हे विभो ! आप उत्तम कान्ति, भक्ति अथवा ज्ञानसे सम्पन्न जीवोंके देव हो—उतमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओंसे अजेय हो, अनन्त पदार्थोंका निरूपण करने-वाले हो अथवा ज्ञान-दर्शनादि गुणोंसे विस्तृत और सीमारहित हो । हे पद्मप्रभदेव ! मैं आपको अन्तरहित-अविनाश्वर मान-कर बड़ी धृष्टतासे नमस्कार करता हूँ और यही धृष्टतासे ही आपकी पूजा कर रहा हूँ ।

भावार्थ—यहां आचार्यने यह भाव व्यक्त किया है कि जब इन्द्र तथा गणधर भी आपके योग्य आपकी पूजा वा नमस्कारादि नहीं कर सकते तब आपके प्रति मेरा पूजन वा नमस्कारादि करना धृष्टताके सिवाय और क्या हो सकता है ? ॥२८॥

### सुपार्व-जिन-स्तुतिः

( मुरजः )

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्द पावकः ।

भवानेकोपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्वकः ॥२९॥

स्तुवान इति—स्तुवाने वन्दमाने । कोपने क्रोधने कोषं करोतीति कोपनः<sup>२</sup> अतस्तस्मिन् । च समुच्चये । एवाऽध्वारणे । समानः सदृशः ।

१ 'धृष्टेभिस्तुर्विद्यतदच' इत्यमरः । २ इयद् च ।

यत् यस्मात् । न प्रतिषेधे । पुनातीति पात्रकः पवित्रः । नागिनः । भवान्  
भट्टारकः । न प्रतिषेधे । एकोपि\* प्रधानोपि असंहायोपि । नेतेव नायक  
इव । त्वं बुध्मदः प्रयोगः । आश्रयः आश्रयणीयः । सुपार्वकः सप्तम-  
धीर्थकरस्वामी । किमुक्तं भवति—स्तुतिं करोति यः कोपं करोति यः  
तयोः द्वयोर्न न समानः किन्तु समान एव । ततः त्वं सुपार्वकः एकोपि  
सन् पावक इति कृत्वा नेतेव सर्वेषु आश्रयः ॥ २४ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! सुपार्वनाथ ! आप, स्तुति करनेवाले  
और निन्दा करनेवाले—दोनोंके विषयमें समान हैं—रागद्वेष  
से रहित हैं । सबको पवित्र करनेवाले हैं—सबको हितका  
उपदेश देकर कर्मबन्धनसे छुटानेवाले हैं । अतः आप एक असं-  
हाय ( दूसरे पक्षमें प्रधान ) होनेपर भी नेताकी तरह सबके  
द्वारा आश्रयणीय हैं—सेवनीय हैं ।

भाषार्थ—जिस तरह एक ही नेता अनेक आदमियोंको मार्ग  
प्रदर्शनकर इष्ट स्थानपर पहुँचा देता है उसी तरह आप भी अनेक  
जीवोंको मोक्षमार्ग बतलाकर इष्ट स्थानपर पहुँचा देते हैं  
और स्वयं भी पहुँचे हैं अतः आप सबकी श्रद्धा और भक्तिके  
भाजन हैं ॥ २५ ॥

### चन्द्रप्रभ-जिन-स्तुतिः

( मुरजः )

चन्द्रप्रभो दयोजेयो विचित्रेऽभात् कुमण्डले ।

रुद्रशोभोक्षयोमेयो रुचिरे भानुमण्डले ॥ ३० ॥

चन्द्रप्रभ इति—चन्द्रप्रभः अष्टमतीर्थकरः । दयते इति दयः  
रक्षकः । न जीयते इत्यजेयः जितादिच्छक इत्यर्थः । विचित्रे नागप्रकारे ।  
अभात् शोभितः भा दीप्तौ अस्य भोर्लङन्तस्य रूपम् । कुमण्डले पृथ्वी-

१ एके मुख्यान्यकेवलाः ।

मण्डले मण्डलमिति वृत्तप्रदेशस्य संज्ञा । रुद्रा<sup>२</sup> अमन्दा महती शोभा  
 दीप्ति चैस्वासौ रुद्रशोभाः । न चोयत इत्युच्यते । अमेयः अपरिमेयः ।  
 रुधिरं दीप्ते । भाजुना प्रभायां मण्डलं संघातः भाजुमण्डलं तस्मिन्  
 भाजुमण्डले सति । चन्द्रेण सह रजेषः । कानिचित्साधर्म्येण विशेषणानि  
 कानिचिद्वैधर्म्येण । एतदुक्तं भवति—चन्द्रप्रभस्त्वं कुमण्डले विचित्रे  
 अथात् रुधिरं भाजुमण्डले सति । अन्वार्ति चन्द्रप्रभमहाकस्त्वैव विशेष-  
 याति । दयः अजेयः रुद्रशोभाः अक्षयः अमेयः चन्द्रप्रभचन्द्रयोः समा-  
 नत्वं, किन्तु एतावान् विशेषः । स जेयो राहुणा अयमजेयः । स सङ्घयः  
 अयमक्षयः । स मेयः अयममेयः । स पृथ्वीमण्डले अयं पुनस्तैल्लोके  
 अल्लोके च । अयं व्यक्तिरेकः ॥ १० ॥

अर्थ—हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप चन्द्रमा-जैसी प्रभासे  
 सम्पन्न हैं परन्तु चन्द्रमा और आपमें निम्नलिखित व्यतिरेक-  
 विशेषताएँ हैं । आप सबके रक्तक हैं—सबको सुख देनेवाले हैं  
 परन्तु चन्द्रमा चकवा-चकवी आदिको दुःख देनेवाला है । आप  
 अजेय हैं—किसीके द्वारा नहीं जीते जा सकते—परन्तु चन्द्रमा  
 राहुके द्वारा जीत लिया जाता है । आप तीनों लोकों तथा अलोक-  
 में भी प्रकाशमान रहते हैं—सब जगहके पदार्थोंको जानते हैं  
 परन्तु चन्द्रमा सिर्फ पृथ्वी-मण्डलमें ही प्रकाशमान रहता है ।  
 आपकी शोभा रुद्र है—अतिविशाल है—परन्तु चन्द्रमाकी शोभा  
 सीमित है । आप लज्ज-रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा लज्ज साहित  
 है—कृष्णपक्षमें कम-कम से लीण होता जाता है । आप अमेय  
 हैं—अपरिमित हैं अर्थात् आपके गुणोंका कोई परिमाण नहीं है  
 अथवा आप प्रमाणके विषय नहीं हैं; परन्तु चन्द्रमा मेय है—  
 परिमित है—उसके १६ कलाएँ हैं तथा प्रमाणका विषय है, आप  
 सूर्यमण्डलके वैवीर्यमान रहते हुए भी शोभायमान रहते हैं  
 परन्तु चन्द्रमा सूर्यमण्डलके सामने शोभा-रहित होजाता है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें चन्द्रप्रभ इस श्लेष विशेषणसे पहले तो अष्टम तीर्थकर चन्द्रप्रभ और चन्द्रमामें सादृश्य बतलाया गया है परन्तु बादमें अन्य विशेषणोंकेद्वारा चन्द्रमाकी अपेक्षा अष्टमतीर्थकरमें वैशिष्ट्य सिद्ध किया गया है ॥३०॥

( सुरभः )

प्रकाशयन् तमुद्भूतस्त्वमुद्घाककलालयः ।  
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः ॥३१॥

प्रकाशेति—चन्द्रप्रभः अभादिति सम्बन्धः । किं विशिष्टः प्रकाशयन् तिमिरं प्रपाटयन् । खं आकाशं । उद्भूतः उद्गतः । त्वं । उद्घः महात् अङ्कः घट्टं यस्यासौ उद्घाकः, कलानां कलागुणविज्ञानानां लेखानां वा आलयः आधारः कलालयः, उद्घाकश्चासौकलालयश्च उद्घाककलालयः । विकासयन् प्रकोषयन् । समुद्भूतः । कुमुदं पृथ्वी-हर्षम् । अन्यत्र कुमुदं पुष्पम् । कमलायाः लक्ष्म्याः प्रिय इष्टः । अन्यत्र कमलानां पद्माला प्रियः अनिष्टः कमलाप्रियः । एतदुक्तं भवति—त्वं चन्द्रप्रभोऽभात् एतत् कुर्वन् धुवं गुणविशिष्टः चन्द्रैश्च समानः । रत्नेषालंकारोऽयम् ॥३१॥

अर्थ—हे विभो ! आप चन्द्ररूप हैं, क्योंकि जिस तरह चन्द्रमा उदय होते ही आकाशको प्रकाशित करता है उसी तरह आप भी ( केवल ज्ञानके प्राप्त होनेपर ) समस्त लोकाकाश और अलोकाशको प्रकाशित करते हैं । चन्द्रमा जिस तरह हरिणके मनोहर चिह्नसे युक्त है उसी तरह आप भी मनोहर चिह्न जो 'अर्धचन्द्र' उससे युक्त हैं । चन्द्रमा जिस तरह सोलह कलाओंका आलय (गृह) है उसी तरह आप भी केवलज्ञान आदि अनेक कलाओंके आलय-स्थान हैं । चन्द्रमा जिस तरह कुमुदों-नील-कमलोंको निकसित करता हुआ उदित होता है उसी तरह

आप भी कु-पृथिवी-गत समस्त जीवोंके आनन्दको बढ़ाते हुए उदित हुए हैं—उत्पन्न हुए हैं और चन्द्रमा जिस प्रकार कमला-प्रिय है—( कमल + अप्रिय ) कमलोंका शत्रु है—उन्हें निमीलित कर देता है उसी प्रकार आप भी कमलाप्रिय हैं—केवलज्ञानादितत्त्वमीके प्रिय हैं ।

इस श्लोकमें विशेषण सादृश्यसे अष्टम तीर्थं करको चन्द्रमा बतलाया गया है । यह श्लेषालंकार है ।

नोट—श्लोकगत समस्त विशेषणोंसे जैसे अष्टम तीर्थं कर और चन्द्रमामें सादृश्य सिद्ध किया गया है वैसे ही उन दोनोंमें वैसादृश्य—व्यतिरेक भी सिद्ध होता है । इस पद में श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा—

हे भगवन् ! आप चन्द्रमाकी तरह शोभायमान हैं अवश्य, परन्तु आपमें उसकी अपेक्षा नोचे लिखी हुई विशेषतायें हैं—चन्द्रमा सिर्फ आकाश-विवरको प्रकाशित करता हुआ उदित होता है, परन्तु आप अलिल विश्वको प्रकाशित करते हुए ( द्रव्यार्थिकजगत्की अपेक्षा ) अनादिकालसे उदित ही हैं । चन्द्रमाका चिह्न कृष्ण है—कलङ्करूप है, जिससे वह कलङ्गी कहलाने लगा है परन्तु आपका चिह्न अर्धचन्द्र अत्यन्त मनोहर है अथवा आपके शरीरमें जो १००८ सामुद्रिक चिह्न हैं वे भी अत्यन्त सुन्दर हैं । चन्द्रमा कलालय है—अपनी कलाओंका लय विनाश लिए हुए है परन्तु आप केवलज्ञान आदि कलाओंके आलय—धर हैं । चन्द्रमा कुमुद—कुत्सित-वैषयिक मुद-हर्षको अथवा दुर्जन पुरुषोंके हर्षको ( पक्षमें कुमुद पुष्पको ) वृद्धिगत करता है परन्तु आप उत्कृष्ट आरमीय आनन्दको अथवा समस्त पृथ्वीगत-जीवधारियोंके आनन्दको वृद्धिगत करते हैं—बढ़ाते हैं । चन्द्रमा उदित होकर अस्त होजाता है परन्तु आप हमेशा उदित ही रहते हैं—आप कभी अस्तमित नहीं होते । चन्द्रमा कमलोंको

अप्रिय है—विरोधी है परन्तु आप कमलोकें अप्रिय नहीं हैं ( पद्ममें कमला—अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके—प्रिय-पति हैं ) । हे भगवन् ! इस तरह आप अनोखे चन्द्रमा हैं ॥३१॥

( सुरजः )

धाम त्रिषां तिरोधानविकलो विमलोल्लसः ।

त्वमदोषाकरोस्तोनः सकलो विपुलोदयः ॥३२॥

धामेति—चन्द्रप्रभोऽभात् यत्रापि सन्निवसनीयः । धाम अवस्था-  
नम् । त्रिषां तेजसाम् । तिरोधानेन व्यवधानेन विकलः विरहितः  
अन्यथाविकलः तिरोधानविकलः । विमलो निर्मलः, चन्द्रः पुनः समलः ।  
न चोपलब्ध इत्यल्लसः, अन्धः सस्रवः । त्वं महाशक्तः । अदोषाणां गुणानां  
आकरः निवासः, अन्धश्च दोषायाः रात्रेः आकरः दोषाकरः । अस्ताः  
क्षिताः कृताः असर्गस्तारकाः येनासावस्तोनः । सकलः संपूर्णः, अन्धोऽ  
सम्पूर्णः । विपुलः महान् उदयः वद्गमो यस्यासी विपुलोदयः । अन्धः  
पुनः अविपुलोदयः । किमुक्तं भवति—त्वं चन्द्रप्रभः पूर्वविधगुण-  
विशिष्टः सन् पृथ्वीमण्डले अभात् शोभित इति सम्बन्धः ॥३२॥

अर्थ— हे प्रभो ! आप चन्द्रमाके समान शोभायमान हैं  
अवश्य परन्तु आपमें और उसमें भारी भेद है । आप केवल-  
ज्ञानरूप तेजके स्थान हैं—तेजस्वी हैं, परन्तु चन्द्रमा तेजसे रहित है ।  
आप तिरोधानसे रहित हैं—संसारके किसी भौतिक पदार्थसे  
आपका आवरण नहीं होता, परन्तु चन्द्रमा मेघ आदिसे आवृत  
हो जाता है—छिपा लिया जाता है । आप विमल हैं—कर्ममल-  
कलङ्कसे रहित हैं परन्तु चन्द्रमा समल है—कलङ्कसे सहित है ।  
आप अन्ध हैं—विनाश रहित हैं—आपके केवलज्ञादि गुणों-  
का कभी नाश नहीं होता, परन्तु चन्द्रमा क्षय-सहित है—उदय  
होनेके बाद अस्त हो जाता है । आप अदोषाकर हैं—दोषोंकी  
आकर (स्थानि) नहीं हैं—आपने ज्ञान-वृथा आदि अठारह दोष

नष्ट कर दिये हैं परन्तु चन्द्रमा ऐसा नहीं है, वह दोषाकर है—  
अनेक दोषोंकी खान है (संसारि पुरुष जो ठहरा) पक्षमें दोषा—  
रात्रिको करने वाला है आपने असर्वज्ञरूप ताराओंको अस्तकर  
दिया है—आपके लोका-लोकावभासी सर्वज्ञत्वके सामने संसार  
के अन्य अल्पज्ञ—हरिहरादि प्रभाव-रहित हो जाते हैं परन्तु  
चन्द्रमा अपनेसे हीनद्युति-ताराओंको अस्त नहीं कर सकता।  
आप सकल हैं—सम्पूर्ण हैं अथवा केवलज्ञान, सद्रवकृत्य  
आदि अनेक कलाओंसे सहित हैं—परन्तु चन्द्रमा विकल है—  
अपूर्ण है—<sup>१</sup>कलाओंसे रहित है। आपका उदय महान् है—आप  
एक स्थानमें स्थित होते हुए भी अपने ज्ञानगुणसे संसारके  
समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं—जानते हैं—परन्तु चन्द्रमा-  
का उदय सीमित है—वह चल फिर कर सिर्फ धोड़ेसे पदार्थोंको  
प्रकाशित कर पाता है।

[ यह श्लेषमूलक व्यतिरेकालंकार है ] ॥३२॥

( मुरजः )

यत्तु खेदकरं ध्वान्तं सहस्रगुरुपायम् ।

भेतुं तदन्तरत्यन्तं सहसे गुरु पायम् ॥३३॥

यत्तु खेदति—यत् यदोरुपम् । तु अप्यर्थे । खेदकरं दुःखकरं खेदं  
करोतीति खेदकरम् । ध्वान्तं तमः अज्ञानं मोहः । सहस्रगुरादित्यः  
अविशब्दोऽत्र सम्बन्धनीयः । सहस्रगुरपि अवारयन् अशक्नुवन् । भेतुं  
विदारयितुम् । तत् ध्वान्तम् । अन्तः सम्बन्धन्तरम् । परत्यन्तं अत्यर्थम् ।  
अथवा अन्तमतिक्रान्तं अत्यन्तम् । सहसे समर्थो भवसि । भेतुं अत्रापि  
सम्बन्धनीयं काकाचित् । गुरु महत् । पारयन् शक्नुवन् । त्वं चन्द्रप्रभ  
इति सम्बन्धनीयम् । किम्कं भवति—त्वं चन्द्रप्रभः यदन्तर्ध्वान्तं

१ 'कला तु चोदयो भागः' इत्यमरः—चन्द्रमाका लोकादयो हिस्सा  
कला कहलाता है ।

खेदकरं मेघं सहस्रगुरपि अपश्यन् तत् प्वान्तं मेघं सहसे समर्था  
नवसि पश्यन् सन् ॥३३॥

अर्थ है भगवन् ! जिस, अत्यन्त दुःख देने वाले मोहरूप  
अन्तरङ्ग और सघन अन्धकारको नष्ट करनेके लिये हजार  
किरणोंको धारण करने वाला सूर्यभी समर्थ नहीं है उस अन्ध-  
कारको आप जड़मूलसे नष्ट कर देते हैं ।

भावार्थ—सूर्य तिमिरारि—अन्धकारका—शत्रु कहलाता  
अवश्य है परन्तु वह अपने विषय—क्षेत्रमें स्थित-सिर्फ भौतिक  
अन्धकारको नष्ट कर पाता है जब कि आप प्राणियोंके अन्तरिक  
मोह अथवा अज्ञान अन्धकारको भी नष्ट कर देते हैं । अतः  
आप सूर्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं । यहां व्यतिरेकालंकार गम्य  
है ॥३३॥

( मुरजः )

खलोलूकस्य 'गोत्रातस्तमस्ताप्यति भास्वतः ।

कालोविकलगोवातः' समयोप्यस्य भास्वतः ॥३४॥

खलोलूकेति—एवं चन्द्रप्रभोऽभूः इति सम्बन्धः । अर्धवशाद्धि-  
भक्तिपरिग्रामो भवतीति त्वमिति भास्वतः सम्बन्धात् च भवति ।  
खलश्चासौलूकश्च खलोलूकः तस्य खलोलूकस्य । यथा ररमोनां जातः  
संघातः गोत्रातः । तमः अन्धकारः । तापी दहनस्वरूपश्च सम्पद्यत  
इत्यप्याह्वयः । अति अदृश्यम् । भास्वतः आदित्यस्य । ते पुनः चन्द्र-

१ 'गौः पुमान् वृषमे स्वर्गे' अथर्ववेदविभागः । स्त्रीगवि भूमि-  
दिग्नेत्रवाग्धासक्तिले स्त्रियः—इति विश्वकोचनः ।

२ अदिकलगः, विकलराः आवातः, घातः, इति पञ्चद्वये—  
पदव्युत्पत्तिः ।

३ 'समयः शपथाचारकावसिद्धास्तसंविदः'—इत्यमरः ।



प्रभस्य भास्वतः प्रकाशयतः गोघातः वचनकदम्बकः नापि कस्यचित्तमो  
 ■ ताप्यति तापि व्यतिरेकः । कालः समयः सुहृत्तादिः । अदिकलग्नः  
 अतिवृत्तः । अन्यत्र विकलग्नः प्रतिवृत्तः । अघातः प्रतिपक्षरूपैर्घातो  
 नास्ति । अन्यत्र मेघादिभिरस्येव । समयोऽपि दर्शनमपि । अस्व भृष्ट-  
 कस्य भास्वतः सन् । एवम्भूत एव अधातः अविकलग्नः नान्यत्र । एत-  
 दुक्तं भवति—भास्वतः गोघातः एवम्भूतः कालः समयश्च नादित्यस्य ।  
 अतस्त्वं चन्द्रप्रभः अभूः कुमयत्ने इति सम्बन्धः ॥३४॥

अर्थ—हे भगवन् ! सूर्यकी किरणोंका समूह दुष्ट  
 चतुष्कके लिये अन्धकार रूप परिणत होता है तथा सबको  
 सन्ताप करने वाला होता है परन्तु हमेशा प्रकाशमान  
 रहने वाला आपको किरणों अथवा वचनोंका समूह न  
 तो किसीको अन्धकाररूप होता है और न किसीको सन्ताप  
 देनेवाला होता है—आपके वचनोंसे सबका अज्ञान अथवा  
 मोहरूप अन्धकार नष्ट हो जाता और सबको आनन्द  
 होता है । सूर्यका काल रात्रिसे व्यवहित है परन्तु आपका काल  
 अव्यवहित है—आप दिन-रात—हर समय—प्रकाशमान  
 रहते हैं । सूर्यके समयका मेघ आदि प्रतिपक्षी पदार्थोंसे घात  
 हो जाता है, मेघ वृत्त आदि पदार्थ सूर्य तथा उसके प्रकाशको  
 ढक लेते हैं परन्तु आपके समयका सिद्धान्त ( दर्शन ) का घात  
 संसारके अन्य किन्हीं भी प्रतिवादियोंद्वारा नहीं हो सकता—  
 आपका स्याद्वाद सिद्धान्त अजेय है । सूर्य दिनमें भास्वत्—  
 प्रकाशमान रहता है परन्तु आप सदा प्रकाशमान रहते हैं ।  
 अतएव हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप सूर्यसे भी अधिक शोभाय-  
 मान हैं ।

यहां व्यतिरेका लंकार है । 'गो' और 'समय' शब्दका  
 रत्न उसकी शोभा बढ़ा रहा है ॥३४॥

( मुरखः )

लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते ।

एकप्रियसहायाय नम एकस्वभाव ते ॥३५॥

लोकत्रयेति—लोकत्रयसेव महामेयं घस्तु लोकत्रयमहामेयम्,  
कमलाणां पद्मानां आकरः कमलाकरः नलिनोवनम् । लोकत्रयमहामेय-  
मेव कमलाकरः लोकत्रयमहामेयकमलाकरः तस्य भास्वान् रविः लोक-  
त्रयमहामेयकमलाकरभास्वान् तस्मै लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते ।  
एकः प्रधानः । प्रियः इष्टः । सहायः सन्धुः । प्रियश्चासौ सहायश्च प्रिय-  
सहायः एकरचासौ प्रियसहायश्च एकप्रियसहायः तस्मै एकप्रियसहायाय ।  
नमः अर्घ्योत्पन्नो किं संज्ञकः पूजावन्तः अस्य योगे सन् । एकस्वभाव  
एकस्वरूप । ते तुभ्यम् । किमुक्तं भवति—चन्द्रप्रभ इत्यनुवर्तते हे  
चन्द्रप्रभ एकस्वभाव तुभ्यं नमः एषं विशिष्टाय ॥३५॥

अर्थ—सदा एक रूप रहनेवाले हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप  
ऊर्ध्व-मध्य-पाताल लोकरूप विशाल—अपरिमित—कमलवनको  
विकसित करनेके लिये सूर्य हैं तथा सबके प्रधान और प्रियबन्धु  
हैं अतः आपको नमस्कार हो ।

भवार्थ—यद्यपि संसारके अन्य महापुरुष साधारण प्राणियोंकी  
अपेक्षा उच्च पदको प्राप्त हुए हैं परन्तु उनका वह पद सत्कर्मो-  
द्यजनित होनेसे कालान्तरमें अवश्य ही नष्ट हो जाता है अतः  
उन्हें एक स्वभाव नहीं कहा जा सकता । परन्तु जिनेन्द्रदेवने  
जिस उत्कृष्ट पदको प्राप्त किया है उसका कर्मक्षयजनित होनेसे  
कालान्तरमें कभी नाश नहीं होता अतः आचार्य समन्तभद्रने  
उन्हें एकस्वभाव कहा है ॥३५॥

( शब्द भ्रमगूढद्वितीयपादः )

चारुश्रीशुभदौ नौभि रुचा वृद्धौ प्रपावनौ ।

श्रोवृद्धौतौ शिवौ पादौ शुद्धौ तव शशिप्रभ ॥३६॥

चारुभीति—यानि द्वितीयपदाक्षराणि तानि सर्वाणि अन्येषु पदेषु सन्तीति ।

ओम् च शुभं च श्रीशुभे चारुणी च ते ओशुभे च चारुश्रीशुभे ते दत्तः इति चारुभीशुभदौ । नमि स्तौमि क्रियापदमेतत् । रुपा दीप्त्या । सुदौ महाम्नी । प्रपादनी पवित्रीभूतौ । श्रियं वृक्षत इति श्रीवृक्षौ श्रीवृक्षीयं च तौ धौतौ च प्रक्षालितौ श्रीवृक्षौदौ । शिषौ शोभनौ । पादौ चरयौ । सुदौ शुची । तव ते । हे शशिधर । एतदुक्तं भवति—शशिधर तव पादौ नमि किं विशिष्टौ तौ एवं गुणविशिष्टौ । अग्न्यानि सर्वाणि शनयोरेव विशेषयानि ॥३६॥

अर्थ—हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आपके चरण कमल सुन्दर समरसरणादि लक्ष्मी और निःश्रेयस आदि कल्याणको देनेवाले हैं, कान्तिसे बढ़े हुए हैं—कान्तिमान् हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मीको वरने वाले हैं, प्रक्षालित हैं अथवा इन्द्र, चक्रवर्ती योगीन्द्र और विविध लक्ष्मीयान् पुरुषोंके द्वारा प्रक्षालित हैं, कल्याण रूप हैं और अत्यन्त शुद्ध हैं अतः उन्हें नमस्कार करता हूँ । ॥३६॥

### पुष्पदन्त-जिन-स्तुति

( निरीक्ष्यरत्नोक्तममकः<sup>१</sup> )

शंसनाय कनिष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहिनः ।

नयेनाशंसितं श्रेयः सद्यः सन्तत्र राजितः ॥३७॥

१ इस रत्नोक्तमें ओष्ठस्थानीय लक्षण, पदगं और उरुष्मानीय अक्षर नहीं हैं । साथमें रत्नोक्तावृत्ति होनेसे रत्नोक्तममक भी है ।

‘य नायक निष्ठायाश्चेष्टायायत्र देहि नः ।

न येनांशं सितं श्रेयः सद्यः सन्नजराजितः ॥३८॥

( युगम् )

शंसेति—जौष्यमश्नन्मत्र रक्षोके नास्ति क्षिरावपत्ते च इति हेतोः । शंसनाय प्रशंसनायै । कनिष्ठयाः अयुभूतायाः । वेष्टायाः कायबाहु-मनः-क्रियायाः । यत्र यस्मिन् सर्वज्ञविशेषे । देहिन्ः प्राणिनः सम्बन्धेन । नयेन अभिप्रायेण । आशंसितं सम्भावितं । श्रेयः पुण्यम् । सत् शोभनम् । यः यश्च । द्वितीयार्थे व्याख्यायमाने च शब्दोऽतिरेकः सोऽयम्बन्धनीयः । हे अज सर्वज्ञ । राजितः शोभितः । सन् भवन् । उत्तरार्थे क्रिया तिष्ठति तया सम्बन्धः कर्तव्यः ॥३७॥

शंसनेति—शं सुखम् । पूर्वोक्तः । नायकः नेता प्रमुखा तस्य सम्बोधनं नायकः । निष्ठायाः भोक्तायाप्तेः । च अर्थं चशब्दः पूर्वार्थे दृश्यः । इष्टायाः प्रियायाः । अत्रास्मिन् । देहि दीयताम् । नः अस्मभ्यम् । न । येन । अशं दुःखम् । सितं बद्धम् । श्रेयः श्रेयणीयः सन् । सद्यः तत्कालादेव । सन्नो जितश्च । जरा-वृद्धित्वं यस्यासौ सन्नजरः तस्य सम्बोधनं हे सन्नजर । अय्यैरजितः अजितः सन् । घान्तैःपदैः सर्वत्र सम्बन्धनीयः । समुदायार्थः—यस्मिन् सर्वज्ञविशेषे प्राणिनिः स्तुति-नात्राद्वा पुष्पखण्डाद्वा पुण्यं भावितं सत् प्रशंसायै भवति यश्च राजितः । पुष्पवन्त इति उत्तर श्लोके तिष्ठति सोऽयम्बन्धनीयः । स त्वं श्रेयः सन् हे पुष्पवन्त अज अस्मभ्यं शं देहि, येन सुखेन दुःखं सितं बद्धं न भवति तत्सुखं देहीत्युक्तं भवति ॥३८॥

अर्थ—जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मीसे शोभायमान हैं, जो सबके द्वारा मेय-सेवनीय हैं और जो ( निरवकी किसी अर्थ शक्तिसे ) अपराजित हैं—जीते नहीं जा सके हैं—ऐसे अत्यन्तश्रेष्ठ, जन्मरहित और सर्वप्रिय मोक्षलक्ष्मीके प्रसिद्ध

नायक है पुष्पदन्त जिनेन्द्र ! आपके विषयमें की गई मन-वचन-कायकी छोटी-छोटी चेष्टाओंसे—आपके चिन्तवन-स्तवन तथा नमस्कारसे—प्राणियोंको जिस श्रेष्ठ पुण्यका बन्ध होता है वह मात्र अनुमानसे संभावित होनेपर भी स्तुतिके योग्य ठहरता है । हे प्रभो ! आप मुझे भी वह मोक्षसुख दीजिये जिससे फिर कभी वह सुख दुःख-बन्ध ॥ हो—दुखको प्राप्त न हो ।

भावार्थ—आपके स्तवनादिसे प्राणियोंको जो पुण्य-बन्ध होता है वह यद्यपि छद्मास्थ जीवोंके स्वानुभवगम्य नहीं होता—वन्हे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि उस पुण्यबन्धसे जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है उससे उसका अनुमान किया जा सकता है । यद्यपि इस अनुमान-प्रणालीसे पूर्ण पुण्यबन्धका बोध नहीं हो पाता तथापि जितने पुण्यबन्धका बोध होता है विचार करनेपर वह भी प्रशंसनीय ठहरता है । क्योंकि उससे भी अनेक ऐहिक तथा पारलौकिक फलोंकी प्राप्ति हो जाती है । हे भगवन् ! आपके विषयमें की गई मन-वचन-कायकी साधारण प्रवृत्तिसे जब जीवका इतना उपकार होता है तब मन-वचन-कायकी पूर्ण शक्ति लगाकर आपकी उपासना करनेसे जीवका कितना बड़ा उपकार न होगा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

( मुरखः )

शोकक्षयकुदव्याधे पुष्पदन्त स्ववत्पते ।

लोकत्रयमिदं बोधे गोपव तव वर्त्तते ॥३९॥

शोकेति—शोकक्षयकृत् शोकक्षय क्षयः शोकक्षयः तं करोतीति शोकक्षयकृत् । अत्रव्याधे न विद्यते तद्यधिर्यस्यास्मान्मव्याधिः तस्य सम्बोधनं हे अत्रव्याधे । पुष्पदन्त नवमतीर्थंकर । स्ववत्पते आप्तवर्त्ता पते । लोकानां त्रयम् । इदं प्रत्यक्षवचनम् । बोधे केवलज्ञाने । गोपदं गोप्यदम् अत्र सुपो जुष् भवति । तव ते वर्त्तते प्रवर्त्तते । जनस्य साहाय्यं प्रद-

शितम् । गुणव्यावर्णनं हि स्तवः । किमु कं भवति हे पुष्पदन्त परमेश्वर  
तव बोधे लोकत्रयं गोष्पदं वसते यतः ततो भक्षानेव परमात्मा ॥३६॥

अर्थ—हे शोकका क्षय करनेवाले ! हे व्याधियोंसे रहित !  
हे आत्मज्ञानियोंमें भेष्ट ! पुष्पादन्त भगवान् ! आपके विश्व-  
प्रकाशी केवलज्ञानमें ये तीनों लोक गोष्पदके—कीचड़में चिह्नित  
हुए गायके खुरके—समान जान पड़ते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका ज्ञान विशाल समुद्रके समान है और  
यह लोकत्रय गोष्पदके समान अत्यन्त तुच्छ है । प्रमेय-पदार्थोंकी  
इयत्तासे आपके प्रमाण-ज्ञानकी इयत्ता नहीं आँकी जा सकती ।  
आपका ज्ञान स्वभावसे अनन्त है, ■ कि अतन्त पदार्थोंको  
जाननेसे ॥३६॥

( मुरः )

लोकस्य धीर ते वाढं रुचयेपि जुषे मतम् ।

नो कस्मै धीमते लीढं रोचतेपि द्विषेभृतम् ॥४०॥

लोकेति - लोकस्य भठ्यजीवार्मा । हे धीर गम्भीर । ते तव ।  
वाढं अर्थम् । रुचये दीप्तये । अपि भिन्नक्रमे । जुषे च प्रीतये । तादृश्ये  
अवियम् । मतं प्रवचनम् । नो प्रतिषेधवचनम् । कस्मैचिद् जीवाय ।  
धीमते च बुद्धिमते । लीढं आस्वादितम् । रोचते रुचिं करोति । अपि  
समुच्चयेऽर्थे । द्विषे विद्विषे । असृतं बोधशभागः । पतद्भुक्तं भवति—हे  
पुष्पदन्त धीर ते मतं लीढं लोकस्य रुचये जुषेपि वाढं रोचते । ननु  
धीमते रोचताम् । यावत्ता हि नो ह्येहि तस्य कथं रोचते द्विषेपि असृतं  
लीढं धीमते च । न कस्मै रोचते किन्तु रोचत एव ॥ ४० ॥

अर्थ—हे गम्भीरहृदय पुष्पदन्त भगवान् ! आपका यह  
पवित्र मत—आगम आस्वादन विषे जानेपर—अवगण पठन

चिन्तन आदि किये जानेपर—प्रत्येक को आपके भक्त और विद्वेषी दोनों प्राणियोंको—ज्ञानवृद्धि एवं प्रीतिको देने वाला है; क्योंकि अमृत आस्वादन किये जान पर किस बुद्धिमान्को अच्छा नहीं लगता ? भले ही वह उससे द्वेष रखता हो ।

भावार्थ - अमृतसे चाहे कोई स्नेह रखे चाहे द्वेष, आस्वादन करनेपर वह जिस तरह सबको सुख पहुँचाता है उसी तरह कोई आपसे स्नेह करता हो चाहे निद्वेष, आपका आगम सबको सुख पहुँचाता है—सुखका रास्ता बतलाता है । उसका कारण आपकी धीरता-गम्भीरता और स्तुति-निन्दामें समानता है जिसे कि 'धीर' इस विशेषणसे आचार्य श्रीसमन्तभद्रने श्लोकमें अङ्कित किया है ॥ ४० ॥

### शीतल-जिन-स्तुतिः

( मुरजः )

एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोपि प्रसादकः ।

भूतनेत्र पतेस्यैव शीतलोपि च पावकः ॥४१॥

एतदिति—एतत् प्रत्यक्षवचनम् । चित्रं आश्चर्यम् । क्षितेः पृथिव्याः । एव आप्यर्थः । घातकोपि हिंसकोपि । प्रसादकः प्रपादकः । भूतानां जीवानां नेत्रं चक्षुः भूतनेत्रं तस्य सम्बोधनं हे भूतनेत्र । पते स्वामिन् । क्षिति भवति । एव अप्यर्थः । शीतलः भग्न्याह्लादकः दशमतीर्थविधाता । अपि च तथापि । पावकः पवित्रः । विरुद्धमेतत् कथं शीतलः शीतलक्रियः पावकः अग्निः । यदि शीतलः कथं पावकः । अथ पावकः कथं शीतलः । यथा यो घातकः कथं प्रसादकः । अथ प्रसादकः कथं घातकः । विरुद्धमेतत् । एतदुक्तं भवति—हे भूतनेत्रपते क्षितेरेव आश्चर्यमेतत् । यो घातकोपि प्रसादकः । त्वं पुनः शीतलोपि च पावकः भग्नस्यैव ॥४१॥

१ 'पते + असि + एव' इति पदच्छेदः ।

अयं - हे प्राणिलोचन ! प्रभो ! यह आश्चर्यकी बात है कि आप पृथिवीके—पृथिवीगत प्राणियोंके ( पक्षमें—ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोंके )—घातक हो कर भी पालक हैं—रक्षक हैं—और शीतल—शीतगुण विशिष्ट—ठण्डे ( पक्षमें—शीतलनाथ दशम तीर्थकर ) होकर भी पावक-अग्नि ( पक्षमें—पवित्र करने वाले ) हैं ।

भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है अतः पहले इसमें विरोध मालूम पड़ता है परन्तु बादमें उसका परिहार हो जाता है । जहां श्लेष इसका मूल होता है वहां विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । यहाँ 'क्षिति' 'शीतल' और 'पावक' शब्द श्लिष्ट हैं । जो पृथिवीका घातक होगा वह पालक कैसे होगा ? यह विरोध है परन्तु परिहार पक्षमें क्षितिका अर्थ कर्मरूप पार्थिव—पुद्गलपरमाणु—लेनेसे विरोध दूर हो जाता है । इसी तरह जो शीतल—ठण्डा होगा वह पावक—अग्नि कैसे होगा ? यह विरोध है परन्तु शीतलका अर्थ दशमतीर्थकर और पावकका अर्थ पवित्र करने वाले लेनेसे सब विरोध दूर हो जाता है । अथवा हे भगवन् ! 'आप घातक होकर भी प्रपालक हैं और शीतल होकर भी अग्नि हैं' यह 'विरोध' क्षितेश्व-पृथिवीवत् जड़ मनुष्योंको ही हो सकता है न तु विदुषाम्—विद्वानोंको नहीं ॥४१॥

( मुरजः )

काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।

विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ॥४२॥

कामेति—काममत्यर्थ कामनीयं वा । एत्य गत्वा । जगत्सारं त्रिलोकसारम् । जनाः लोकाः । स्नात अज्ञानमलप्रचालनं कुरुष्वम् । महसां तेजसां निधिः श्वस्थानं यः सः श्वस्तं महोनिधिम् । विमलः

१ 'महस्तत्त्वप्रवतेजसोः' इति विश्वलोचनः ।



निर्मलः अत्यन्तः अपर्यन्तः गम्भीरः अगाधः यः सः विमलः अत्यन्तगम्भीरः  
अतस्तं विमलः अत्यन्तगम्भीरम् । जिन एव असूतमहोदधिः चौरसमुद्रः  
जिनासूतमहोदधिः अतस्तं जिनासूतमहोदधिम् । धृतकृत् भवति—ययः  
एवंभूतः शीतलमट्टारकः ततस्तं शीतलं जिनासूतमहोदधिं विमलं  
अत्यन्तगम्भीरं हे जना एव गृह्णा स्नात कामम् ॥४२॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! तुम उस जिनेन्द्ररूपी क्षीरसमुद्रको  
प्राप्त कर यथेष्ट स्नान करो—कर्ममलको धोकर अपने आपको  
पवित्र बनाओ—जो कि तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ है, उत्तर अथवा  
तेजका स्थान है, विमल है—कर्ममल और कदम  
रहित है, अत्यन्त है—विनाश-रहित और पार-रहित है, तथा  
गम्भीर है—धीरवीर और गहरा है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें रूपकालंकारसे जिनेन्द्रदेव और क्षीर-  
समुद्रमें अभेद किया गया है । इसके जो विशेषण दिये गये हैं वे  
प्रायः श्लेषमय होनेसे दोनोंके—जिनेन्द्र और क्षीरसमुद्रके—पक्ष-  
में ठीक ठीक बैठ जाते हैं । यथा—जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव तीनों  
लोकोंमें सारभूत हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी सारभूत है ।

जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त पराक्रम आदि  
तेजके भण्डार हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी देवकृत अनेक  
उत्सवोंका भण्डार है । जिनेन्द्रदेव जिस तरह कर्ममलसे  
रहित होनेके कारण विमल हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी कदम-  
शैवाल आदि मलके न होनेसे विमल है । जिस तरह जिनेन्द्र  
देव अन्तसे रहित हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी अन्तसे-पारसे  
रहित है—अत्यन्त विस्तृत है । और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार  
गम्भीर हैं—रागद्वेषसे रहित होनेके कारण धीरवीर हैं—वसी  
तरह क्षीरसमुद्र भी गम्भीर है—गहरा है । इस जिनेन्द्र रूपी  
भक्त्य क्षीरसमुद्र में स्नान करनेसे—भक्तिपूर्वक उनका ध्यान,  
करनेसे—सब कर्ममल नष्ट हो जाते हैं । इसीलिये आचार्यने भव्य

जीवोंको इस अतुल्यम क्षीरसागरमें स्नान करनेका आदेश दिया है ॥४२॥

### श्रेयोजिन-स्तुतिः

( अर्द्धभूमिरीष्यगूढचतुर्थपादः )

हरतीज्याहिता तान्ति रक्षार्थायस्य नेदिता ।

तीर्थादे श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि ॥४३॥

हरतीति--अर्द्धेन भ्रमति यतः श्रीष्वाक्षरमपि न विषते सर्वत्र चतुर्थपादाक्षराणि च सर्वेषु पादेषु सन्ति ततो भवत्ययं पूर्वगुणः ।

हरति विनाशयति । इष्ट्या पूजा । आहिता कृता । तान्ति स्वेदं क्लेशं दुःखम् । रक्षार्थां पालनार्थां, आपस्य प्रयस्य यत्नं कृत्वा । नेदिता समीपीकृता अन्तिकस्य शिषि कृते नेदादेशस्य रूपमेतत् कान्तस्य । शीतलतीर्थजिच्छेदे उत्पन्नो यतः ततः तीर्थादिः संज्ञातः तस्य सम्बोधनं हे तीर्थादे । श्रेयसे अभ्युदयाय । नेता नायकः । अज्यायः वृद्धत्व-  
होनः । श्रेयसि एकादशतीर्थकरे त्वयि । अयस्य पुण्यस्य । हि यस्मात् । एतत्तुक्तं भवति--हे तीर्थादे अज्यायः त्वयि श्रेयसि आहिता इज्या रक्षार्थां प्रयस्य पुण्यत्वान्तिका श्रेयोर्था इह लौकिकार्था तान्ति पु-  
रतः हरति । यतस्ततस्त्वं नेता नायक एव नाम्भ्यः । उत्तररत्नोके यानि विशेष-  
णानि तान्यत्रैव दृष्टव्यानि ॥ ४३ ॥

अर्थ--हे तीर्थके आदिमें होनेवाले\* ! जरारहित ! श्रेया-  
न्सनाय भगवन् । प्रयत्नपूर्वक समीपीकृत तथा भन वचन काय-  
की एकाग्रतासे की गई आपकी पूजा सांसारिक सन्तापको

१ यह श्लोक अर्द्धभूम है, इसमें ओष्ठस्थानीय धर्म नहीं है और चतुर्थपादके समस्त अक्षर तीन पादोंमें गूढ़ हैं ।

२ भगवान् शीतलनाथके तीर्थके अन्तिम समयमें तीर्थ-धर्मका विच्छेद हो गया था उसके बाद श्रेयान्सनाथका जन्म हुआ था । इसलिये उन्हें तीर्थके आदिमें होने वाला कहा है ।

हरती है, पुण्यकी रक्षा करती है और अनेक कल्याण प्राप्त कराती है, अतः आप ही जगत्के सर्वश्रेष्ठ नायक हैं ॥४३॥

( अर्द्धब्रह्मः )

अविवेको न वा जातु विभूषापन्मनोरुजा ।

वेशा मायाज वैनो वा कोपयागश्च जन्म न ॥४४॥

अविवेकेति—स्वयि अयसि हृद्यनुवर्त्तते । अविवेकः अनालोचनम् । न प्रतिवेधवचनम् । वा समुच्चये । जातु कदाचित् । विभूषा शरीरालंकारः । आपत् विपत् महासंकलेशः । मनोरुजा चित्तपीडा । वेषा शरीरविन्यासः । माया वंचना । हे अज सर्वज्ञ । वा समुच्चये । एनो वा पापं वा । कोपः क्रोधः हिंसापरिणामः ॥ आगश्च अपराधश्च । जन्म उत्पत्तिः । न प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः । किमुक्तं भवति—हे श्रेयन् तस्मिन् त्वयि अविवेको न कदाचिदभूत्, विभूषा वा न, आपद्वा न, मनोरुजा वा न, वेषा वा न, माया वा न, हे अज एनो वा न, कोपः आगश्च जन्म च न, यतः अतः ततो भवानेव नेतेति सम्बन्धः । अविवेको नास्तीति वचनेन सांख्य-सौगन्ध-यौगन्तां निराकरणं कृतम् । अन्यैर्विशेषशैत्ये निराकृताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ ! ( सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होनेपर ) आपमें कभी अज्ञान नहीं था, आपके शरीरपर कभी आभूषण न थे तथा आपत्ति—शारीरिक व्यथा, मानसिक व्यथा, तरह तरहके वेष, छलकपट, पाप, क्रोध, अपराध तथा जन्म आदि कभी नहीं थे इस कारण आप ही सबके नायक हैं ।

भावार्थ—सांख्य, बौद्ध तथा नैयायिक ईश्वरको ज्ञानस्वरूप नहीं म नते किन्तु ज्ञानगुणका आधार मानते हैं अतः उनका निराकरण करनेके लिये कहा गया है कि आपमें अविवेक कभी नहीं था—आप हमेशा ज्ञानस्वरूप रहते हैं । कितने ही मतावलम्बी अपने देव-देवताओंको तरह तरहके आभूषण, वेषविन्यास,

तथा शत्रुको मारनेके लिये चिन्ता छल कपट क्रोध पापाचार एवं  
अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका धारण करना मानते हैं। कुछ  
लोग यह भी मानते हैं कि हमारे ईश्वर एक बार मुक्त हो चुकने  
पर भी असत् पुरुषोंके निग्रहके लिये, सज्जनोंके उपकारके  
लिये और सद्धर्मकी स्थापनाके लिये पुनर्जन्म होते हैं—किरसे  
संसारके दुःस्वोंको प्राप्त होते हैं। इसलिये श्लोकगत अन्य  
समस्त विशेषणोंसे उनका निराकरण हो जाता है ॥ ४४ ॥

( मुरजः )

आलोक्य चारु लावण्यं पदाल्लतुमिवोर्जितम् ।

त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातुं ध्रुवोदितम् ॥४५॥

आलोक्येति—आलोक्य इष्ट्वा । चारु शोभनम् । लावण्यं  
स्वास्थ्यं सौभाग्यम् । पदात् पदात् । ललितं महीशम् । इव औपम्ये ।  
ऊर्जितं महत् । त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी । च अत्यर्थे ।  
अलिङ्गा निरवरोधा । पुण्यं शुभम् । मुदा इषेण । दातुं दत्तुम् । ध्रुवो-  
दितं नित्योद्गातम् । अश्लीत्यनुवर्तते । किमुक्तं भवति—यस्य भयलो  
महारक्ष्य पदात् त्रिलोकी अलिङ्गा आलोक्य लावण्यं किं विशिष्टं  
पुण्यं दातुं ध्रुवोदितमिवोर्जितं ललितमिव ननाम इति सम्बन्धः । महार-  
क्षत्वं मा अत्र हस्तुत्तरसम्बन्धः ॥ ४५ ॥

१ 'अजोऽपि सक्षय्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

महर्षिः स्वामिष्ठाय संभवाभ्यात्ममायया ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य स्तानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परिज्ञायाम् सृष्ट्या विनाशाय च दुष्कृतम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

—गीता, चतुर्थ अध्याय ४ श्लोक ६, ७, ८ ।

अर्थ—हे प्रभो ! हर्षपूर्वक पुण्य प्रदान करनेके लिये हमेशा प्रकाशमान और विस्तृत आपके चरणकमलोंके मनोहर सौन्दर्यको देखकर उनसे उसे लेने के लिये ही मानों ये तीन लोकके जीव आपको नमस्कार करते हैं ।

भावार्थ—भव्यजीव लोकोत्तर सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें जो अपना मस्तक झुकाते हैं सो मानों वे उनके चरणकमलोंका सौन्दर्य लेनेके लिये ही उन्हें नमस्कार करते हैं । यह उत्प्रेक्षाकार है । ॥ ४५ ॥

( श्लोक्यमकः )

अपराग समाश्रयेन्ननाम यमितोभियम् ।

विदार्य सहितानार्य समुत्सन्नज वाजितः ॥४६॥

अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम् ।

विदार्यसहितानार्य समुत्सन्नजवाजितः ॥४७॥

( युग्म )

अपरागेति—अपराग वीतराग । समाश्रयं सम्यगाश्रयेम् । ननाम नौतिस्म । त्रिलोकी इति सम्बन्धः । यं महारक्तं । इतः प्राप्तः । भियं भीतिम् । विदार्य प्रमिष्य । सह दितेन धर्चन्ते इति सहिता । सैरावार्यः परिवेष्टितः सहितानार्यः तस्य संबोधनं हे सहितानार्य । सम्यग् मुत् हर्षः यस्यासौ समुत् । सन् भवन् । हे अज सर्ववित् । वाजितः कंटकितः । किमुक्तं भवति—यस्य पादात् त्रिलोकी लावण्यं लातुमिष्य यं ननाम । यं वा भव्यजनः इतः अयं विदार्य सहर्षः सन् वाजितः कंटकितः पुलकित-शरीरो भवति स त्वं मा अज इत्युत्तरत्र सम्बन्धः ॥ ४६ ॥

अपरागेति—परागः संपरायः । न विद्यते परागो यस्यासावपरागः तस्य संबोधनं हे अपराग । स त्वं । मा अस्मान् । हे श्रेयन् एकादशती-

बर्कर । आभयः स्वाधिः, न विद्यते आभयो यस्यासावनामयः तं  
अनामयं, मा इति सम्बन्धः । इतः इतः प्रभृति । अभिर्यं अभयम् ।  
विद् ज्ञानम्, आर्थाः साधवः, तै सहितः युक्तः निदार्थसहितः तस्य विद्  
ज्ञानिनः सम्बोधनं हे विदार्थसहित । अथ रक्ष । आर्ष पूज्य । समुत्स-  
न्नजय । आहितः संग्रामात् कलहत् प्रणयसंग्रामात् । किमुक्तं भवति—  
ए पवं विशिष्टः त्वं हे श्रेयन् इतः प्रभृति अनामयं अभिर्यं मा रक्ष आहितः  
समुत्सन्नजय अपराग ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! आप सुर, असुर, किन्नर आदि  
सभीके लिये आश्रयणीय हैं—सेव्य हैं—सभी आपका ध्यान  
करते हैं, आप सशका हित करने वाले हैं अतः द्विताभिज्ञापी-  
जन सदा आपको घेरे रहते हैं—आपकी भक्ति वन्दना आदि  
किया करते हैं । आपकी शरणको प्राप्त हुए भक्त पुरुष भयको  
नष्ट कर—निर्भय हो, हर्षसे रोमाञ्चित हो जाते हैं । आप  
परागसे—कषाय-रजसे-रहित हैं । ज्ञानवान्-श्रेष्ठ पुरुषोंसे सहित  
हैं, पूज्य हैं, तथा रागद्वेषरूप संग्रामसे आपका वेग नष्ट होगया  
है—आप रागद्वेषसे रहित हैं । मैं आपके दर्शन मात्रसे ही  
आरोग्यता और निर्भयताको प्राप्त हो गया हूँ । हे श्रेयान्स देव !  
मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

### वासुपूज्य-जिन-स्तुतिः

( अनन्तरपादमुरज्ज्वन्धः )

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।

वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः क ईदृशः ॥ ४८ ॥

अभीति—प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोः पादयोः मुरज्ज्वन्धो  
इदृश्यः ।

अभिषिक्तः मेरुमस्तके स्थापितः । सुरैः देवैः । लोकैस्त्रिभिः भवन-

वाक्त्रिमनुष्यदेवेभ्यः । भक्तः सेवितः । परैरभ्यैः कैर्न सेवितः किन्तु  
सेवित एव । हे वासुपूज्य इति शतार्थकर । मयि विषये मम वा ।  
इशानामीशः ईश्वरः एवं । सुष्ठु पूज्यः सुपूज्यः । क ईदृशः शुष्मस्वामानः  
अभ्यः क इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—हे वासुपूज्य यः लोकैः त्रिभिः  
अभिषिक्तः भक्तश्च तः अन्यैः कैर्न भक्तः सेवितश्च ततो मयि मम  
त्वमेव ईश्वरः अन्यः ईदृशः सुपूज्यः कः यः अस्माकं स्वामी  
भवेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! जब देवोंने ( मेरे पर्वतपर ले जाकर )  
आपका अभिषेक किया और भक्तनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क,  
मनुष्य, तिर्यञ्च आदि तीनों लोकोंके जीवोंने आपकी सेवा की  
तब ऐसा कौन होगा जो आपकी सेवा न करे ? हे वासुपूज्य !  
आप मेरे विषयमें ईश्वरोंके ईश्वर हैं—मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ ईश्वर  
आप ही हैं—अतः आप ही पूजनीय हैं । आप जैसे अर्हत्पुरुष  
से भिन्न और कौन है जो मेरा स्वामी हो सके ॥ ४८ ॥

( भुरजः )

चार्चस्यैव क्रमेण तु गः सायौ नमन्नभात् ।

सर्वतो वक्त्रमंकास्यमंगं छायेनमप्यभात् ॥ ४९ ॥

चार्चति—चारु शोभनम् । अस्यैव क्रमे पादे । अजस्य सर्वज्ञस्य ।  
तुंगः महान् । सायः संप्रत्ययः । नमन् स्तुतिं कुर्वन् । अभात् शोभते स्म ।  
विरुद्धमेतत् । नमन् सन् कथं तुंगः । अस्य पुनरस्य नमन्नपि तुंगः ।  
अतः एवकारः अत्रैव । सर्वतः समंततः । वक्त्रं मुखं । एकमास्यं  
यस्याङ्गस्य तदेकास्यं एकमुखम् । अङ्गं शरीरम् । छायेना ऊर्न छायेन  
छायावहितम् । अङ्गावत्वं ज्ञापितं भवति । छायेनमपि अभात् शोभते स्म ।  
विरुद्धमेतत्—एकास्यमंगमपि सर्वतो वक्त्रं यतोकास्यं कथं सर्वतो वक्त्रं,  
अथ सर्वतो वक्त्रं कथमेकास्यम् । एतदपि विरुद्धम्—यदि छायेन कथ-  
मभात्, अथाभात् कथं छायेनम् । अन्वयश्च विरुद्धः अस्य पुनः सर्वज्ञस्य न

विरुद्धम् । घटय एव सर्वे एतच्च विरुद्धाङ्कृतिरियम् । किमुक्तं भवति—  
अनेन ध्याजेन महात्म्यं प्रदर्शयत्य स्तवनं कृतं भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—इन सर्वज्ञ वासुपूज्य स्वामीके चरणकमलोंमें नमस्कार करनेवाला पुरुष निश्चयसे पुण्यवान् और उच्च होता हुआ अत्यन्त शोभायमान होता है । इनका शरीर यद्यपि एक मुखवाला है तथापि उसमें चारों ओरसे मुख दिखाई देते हैं—वह चतुर्मुख है तथा छाया-कान्ति भे ( पक्षमें परछाई से ) रहित होकर भी अत्यन्त शोभायमान होता था ।

भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है—‘जो चरणोंमें नम्र होता है वह उच्च नहीं होता और जो उच्च होता है वह किसीके चरणोंमें नम्र नहीं होता’—यह लोकगत विरुद्ध बात है, परन्तु भगवान् वासुपूज्य लोकोत्तर पुरुष हैं उनमें लोकगत विरोध स्थान नहीं पा सकता—उनके चरणोंमें नमस्कार करनेवाला पुरुष निश्चित ही सातिशय पुण्य बन्धकर उच्च पद पाता है ।

‘जिसके एक मुख होगा वह सामनेसे ही दिखावे-ईगा-चारों ओर से नहीं, परन्तु भगवान् वासुपूज्यके एकमुख होकर भी सब ओरसे दिखाई देता था’—यह विरुद्ध बात है; परन्तु वह विरोध भी उनमें लागू नहीं होता क्योंकि केवलज्ञानके कालमें होनेवाले अतिशयविशेषसे उनका मुख चारों ओरसे दिखाई देता है ।

‘जो शरीर छायासे रहित होता है वह शोभित नहीं होता, परन्तु भगवान् वासुपूज्य का शरीर छायासे रहित होकर भी अत्यन्त शोभायमान होता था’—यह विरुद्ध बात है परन्तु उसका परिहार निम्न प्रकार है—यहां छाया शब्द के दो अर्थ हैं—कान्ति<sup>२</sup> और प्रतिबिम्ब । उनमें प्रथम कान्ति अर्थसे विरोध आता है और द्वितीय प्रतिबिम्ब अर्थसे उसका परिहार



होजाता है। भगवान्‌के शरीरकी परछाईं नहीं पड़ती फिर भी वह कान्तिसे अत्यन्त सुन्दर होता है ॥ ४६ ॥

### विमल-जिन-स्तुति

( इष्टपादमुरजबन्धः )

‘कमतामकमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।

श्रीमद्विमलमर्चमं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥

कमेति—कमतां अप्रतिबन्धेन व्रजतु । व्रजतां वा । अकमं युगापत् । क्षेमं कुरत्तं सुखम् । धीमतां बुद्धिमताम् । कर्त्तरि णा । अर्च्यं पूज्यम् । अश्रमं श्रमरहितं अकलेशम् । श्रीमद्विष्णो विमलश्च भीम-  
द्विमलः अतस्तं श्रीमद्विमलं परमतीर्थेशं त्रयोदशम् । अर्चं क्रियापदं बोद्धव्यम् । इमं प्रत्ययवचनम् । वामैः प्रधानैः काभ्यते इष्यते इति वामकामः अतस्तं वामकामम् । नम च चरुदोऽनुक्तो दृष्टव्यः । क्षमं क्षम्यं क्रोधादिरहितमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—श्रीमद्विमलं सर्व-  
विशेषणविशिष्टं अर्च्यं नम च धीमतामर्च्यं क्षेमं कमतां अकमं सर्वेषां प्रणामादेव शास्त्रिसंवति ॥ ५० ॥

अर्थ—हे भव्यजनों ! जो एक साथ सब पदार्थोंको जानते हैं, मंगलरूप हैं, बुद्धिमानोंके पूज्य हैं, खेदरहित हैं, अनन्त शक्तिसे सहित हैं और इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष जिनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ऐसे अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सहित इन विमलनाथ तीर्थंकरको पूजो तथा नमस्कार करो और उसके कलस्वरूप तत्तुल्य उस कुशल अथवा सुखको बिना किसी रुकावटके प्राप्त करो जो कि बुद्धिमानोंके द्वारा पूज्य है, परिश्रमसे रहित है और बड़े बड़े पुरुष जिसकी निरन्तर चाह रहते हैं ।

१ जोहन्तप्रयोगः ‘वृत्तिसर्गातापनेषु कृमाः’ (१।३।३८ अष्टाध्यायी)  
इत्यात्मनेपदम् । धृतिरप्रतिबन्धः ।

भावार्थ—संसारमें दुःख प्राप्तिके मुख्य दो कारण हैं एक कषाय और दूसरा अज्ञान। हमारे आराध्यदेव वीतराग हैं—कषायरहित हैं और सर्वज्ञ भी हैं—अज्ञानसे रहित हैं अर्थात् दुःखके दोनों कारणोंसे रहित हैं—अनन्त-सुख-सम्पन्न हैं। जो भव्यजीव सच्चे हृदयसे उनकी भक्ति करता है वह भी तद्रूप होनेसे तरकालमें सुखका अनुभव करने लगता है। अतः इस श्लोकमें आचार्य समन्तभट्टने सुखामिलायी जीवोंको सुख-प्राप्तिका उपाय बतलाया है। वह यही कि भगवान् विमलनाथ-को पूजो और नमस्कार करो। ॥ ५० ॥

( द्वयचरपादाभ्यासयमकः<sup>१</sup> )

ततोमृतिमतामीमं तमितामतिमुत्तमः ।

मतोमातातिता तोत्तुं तमितामतिमुत्तमाः ॥५१॥

ततोमृतीति—द्वितीयपादोभ्यस्तः पुनरुक्तः सकाशकारयोरेवादित्यर्थं नाम्येकान् । यत्तत्त्वतो भवत्ययं द्वयचरपादाभ्यासयमकः ।

विभक्त इत्यनुवर्त्तते । तत्तत्स्वरूपादहं विभक्तं अमृतिं मरणावर्जितम् । अतामि सत्तत् गच्छामि । इमं प्रत्यक्षबन्धम् । तमिता विनाशिता अमतिः अज्ञानं येवासौ तमितामतिः तं तमितामतिम् । उत्तमः प्रधानः यत्तत्त्वमिति सर्वत्र सम्बन्धः । मतः पूजितः । अमाता अहिंसकः । अतिता सर्वतयतिरहमिति सम्बन्धः । तोत्तुं प्रेरितुम् । तमिता अशमस्व रूपम् । अति पूज्य । मुत् हर्षः यस्यासौ अतिमुत्, सर्वे इमे अतिमुत्ः, पुतेषां मध्ये अयमतिशयेन अतिमुत् अमुत्तम, किमुक्तं भवति—यतो जयतः प्रख्यामादक्रमः चेमं क्रमते स्तोतृयान् ततोऽहमुत्तमः सन् अति-

१ यह श्लोक सिर्फ 'त' और 'म' इनदो अक्षरोंसे बनाया गया है तथा इसका दूसरा और चौथा पाद एक समाज है इसलिये इसमें व्यंजन-चित्र और यमक आकंकार है ।

मुत्तमः सन् मत्तः अमाता अतिताहं तौत्तुं तमितां नक्षेत्रिणुं प्रथम  
विमलं अमृतिम् ॥५१॥

अर्थ—जब कि पूजा और नमस्कार करनेसे भक्त्य पुरुषोंको तत्क्षणमें अनेक कल्याण प्राप्त होते हैं—उनका संसार-भ्रमण तक रुक जाता है, तब मैं भी अपने दुःखों को नष्ट करने के उद्देश्यसे अत्यन्त हृषित होवा हुआ मृत्युरहित और समस्त अज्ञानको नष्ट करनेवाले उन विमलनाथ स्वामीकी शरणमें जाता हूँ—उनकी पूजा और वन्दना करता हूँ जोकि सर्वोत्तम हैं, सर्वपूजित हैं, और परम अद्विसक हैं तथा मैं इसके विपरीत चतुर्गतिरूप-संसारमें भ्रमण करनेवाला हूँ ॥५१॥

( चक्रश्लोकः )

( अक्षरद्वयविरचितसमुदायमकः )

नेतानतनुते'नेनोनिनान्तं नाततो नुतात् ।

नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात् ॥५२॥

नेतेति—यादृग्भूतं पूर्वाहं परषाहंमपि तादृग्भूतमेव । तकारन-  
कारयोरेवास्तित्वं गान्येषाम् । अतः एवंभूतः ।

न प्रतिषेधः । इतान् प्राप्तात् । अतनुते अशरोरित्वे ( तजान्तं ) तस्य  
विकल्पेन आवागमः । न विद्यते एनः पापं यस्यस्तौ अनेनाः तस्य  
सम्बोधनं हे अनेनः । अमितात्वं नक्षेत्रहितं यथा भवति । न अततः

१ 'अतनुते' इतिच्छेदः । तनोर्भावः कर्म वा तनुता, अविद्यमाना  
तनुता यस्मिन् तस्मिन् अतनुते अशरोरित्वे—सिद्धत्वपर्याये इत्यर्थः ।  
समासे सति 'गोस्त्रियोरूप सज्जनस्य' इत्युपसर्जनइत्यख्ये सत्यकारान्तं  
रूपम् । यत्तु संस्कृतटीकायां तजन्तस्य अतनुता शब्दस्य विकल्पेन  
आवागम उक्तं तद्विचिन्त्यं, तजन्तस्य निश्चयबोधिनिवृत्त्यात् ।

२ 'नुतात्' इत्यत्र भावे चतः । नमस्कारादिरप्यर्थः ।

न सदा गच्छतः पूर्वोपि न शब्दः अत्रैवमित्यन्वयः। तेन किमुक्तं भवति—न न अतः अतः एव । द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं भवतः । जुतात् प्रयुतात् । नेता नायकः । न तनुते महात् संपद्यते, न अत्रापि पूर्ववत् सम्बन्धः । न न तनुते किन्तु तनुत एव । इयः स्वामी सन् । नितान्तं अत्ययं । ना पुरुषः । ततः तस्मात् । जुतात् जुयात् । तान्-  
कृतं क्रियापदम् । किमुक्तं भवति—इतान् प्राप्तान् न न अतः संता-  
रिणः अतनुते अशरीरित्वे सिद्धत्वे तनुते विस्तारयति नायकः स्वामी यः  
प्रणामाद्धेतोः । अतः सं ना जुतात् ॥५२॥

अर्थ—हे पापरहित ! विमलनाथ जिनेन्द्र ! आप शरणा-  
में आये हुये संसारों प्राणियोंको बिना किसी क्लेशके शरीररहित  
अवस्था—सिद्धत्व पर्याय—प्राप्त करा देते हैं तथा आपको नमस्-  
कारकरनेसे प्राणी सबका स्वामी और नायक होजाता है। अतः हे  
भव्यजनों ! ऐसे इन विमलनाथ स्वामीको तुम भी नमस्कार करो ।

भावार्थ—आपको नमस्कार करनेवाले भानव अरहन्त-  
अवस्था प्राप्त कर सबके स्वामी और नायक बनते हैं और  
अन्तमें पाप से—कर्ममलसे—रहित होकर सिद्धत्व पर्यायको पा  
लेते हैं, इसलिये आचार्य समस्तभद्रे भग्य जीवोंको आपकी  
भक्ति करनेके लिये प्रेरित किया है ॥५२॥

( चक्रश्लोकः )

नयमानक्षुमापान न मादयार्त्तिनाशन ।

नमनादस्य नो येन नये नोरोरिमाय न ॥५३॥

१ 'अस्य' इति 'असु प्रक्षेपे' इत्यस्य दैवादिकस्य घातोर्लोट् मध्यम-  
पुरुषैकवचनस्य रूपम् । १—२ न नो नये न न अरिमाय इत्युभयत्र  
प्रतिषेधवाचकौ द्वौ भण् शब्दौ प्रकृतार्थं ददयतः । अयं श्लोकोऽञ्जकार-  
चिन्तामणौ द्वितीयपरिच्छेदे चित्राञ्जकारस्यावान्तरभेदस्य पादोत्तरजाते-  
रुदाहरणरूपेणोपन्यस्तः । तथाहि—

नयमेति—नयमानक्षम पृथ्वमानक्षम नयमाना क्षमा यस्यासौ  
 नयमानक्षमः तस्य सम्बोधनं हे नयमानक्षम । न विद्यते मार्ग उद्भूतिः परि-  
 माणां वा यद्व्याप्तावमानः तस्य सम्बोधनं हे अमान । न प्रतिषेधवचनम् ।  
 मां अस्मदः ह्यन्तस्य रूपम् । आर्याणां साधूनां धर्मिः पीडा तां नारदयो-  
 स्यादर्थिनाशनः कर्त्तरि कृपुट् बहुलवचनात् । ततः हे आर्यातिनाशन ।  
 नशनात् विनाशात् जातिनरामरथेभ्यः इत्यर्थः । अस्य उत्सारय । असु-  
 चेपयो इत्यस्य धोः लोटन्तस्य रूपम् । नो प्रतिषेधः । येन कारणेन मये  
 पूजामहं क्षमे संमाननेथ विधिः । न नो प्रतिषेधवचने अत्र सम्बन्धनीये ।  
 न नो नये किन्तु नये पूज । द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः । न प्रति-  
 षेधे । हे उरो महन् । अरिमाय अरिहंसक । अरीन् अन्तः शत्रून् मि-  
 नाति हन्तीति अरिमायः ततः हे अरिमाय । पूर्वोक्तोऽपि न अत्र सम्बन्ध-  
 नीयः । हे न न अरिमाय । किमुक्तं भवति—हे नयमानक्षम अमान  
 आर्यातिनाशन न न अरिमाय मां विनाशात् अस्य अपनय । येन न नो  
 नये अहं । येन पूजामहं क्षमे इत्यर्थः ॥२३॥

नयमानासम्बुद्धिः शमः का श्रीमुखेऽपि सा ।

किं निषेधेऽप्ययं लोक-नाशिनी दुःखि किं कुलम् ॥२३॥

कः पुमान्ग्न सम्बुद्धिः का च नश्वरनिःस्वने ।

होति किं पदमरुताकमित्यर्थे केन भारयते ॥२४॥

वस्त्वशो बुध्यते केन वृद्धरचक्रं रमा च का ।

सम्भरक्षराहं सम्बुद्धिः का कथं निन ईदयते ॥२५॥

ययमान क्षमामान नमासावार्तिनाशन ।

नशनास्य नो येन नये नोरोरिमाय न ॥२६॥

नयमान । क्षमा । मानन—क्षमणीमुख । मा । मारी । आर्ति-अर्चध्यान-  
 मस्यास्तीति । ना । अशन । नशनात् नश्यतीति नशस्तस्यनाद । स्य—  
 योऽन्तर्कर्मणीति धातोर्मध्यमपुरुषः । नः । येन—यमेन । नयेन । उरः ।  
 अरि—अराः सत्यसिम्भिति । मां अपनय । कथं जिग ईदयते इति  
 प्रश्नस्य सर्वरक्तोक्तार्थः ।

अर्थ—हे प्रशंसनीय क्षमासे युक्त । हे अहंकार-शून्य ! हे साधुपुरुषोंकी पीड़ाको नष्ट करनेवाले ! हे कर्मशत्रुओंके घातक ! हे सर्वश्रेष्ठ ! विमलनाथ स्वामिन् ! आप मुझे इस जन्ममरण-रूप विनाशसे दूर कीजिये—मेरे जन्म-मरणके दुःख नष्ट कीजिये, जिससे मैं भी (आपकी तरह) उत्तम स्थानको—स्वात्मस्थितिरूप निर्वाणपदको—प्राप्त हो सकूँ ॥५३॥

( गृहस्वेष्टपादचक्रलोकः<sup>१</sup> )

वर्णभार्यातिनन्याव<sup>२</sup> वन्द्यानन्त सदारव ।

वरदातिनतार्याव वर्यातान्तसभार्याव ॥५४॥

यस्येति—आत्मनः हृष्टं पादः सोम्येषु पादेषु गुण्यते यतः । वर्णं शरीरप्रभया भाति शोभते इति वर्णभः शरीरकान्त्युत्कट इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं हे वर्णभ । आर्यं पूज्य । अतिनन्य सुष्ठुसमृद्ध । अन्व रश्च । लोहन्तस्य रूपं क्रियापदम् । वन्द्य देवासुरैरभिवन्द्य । हे अनन्त धनु-र्दशतीर्थकर । सन् शोभनः आरवः वांशी सर्वभाषारिमका यस्यासौ सदारवः तस्य सम्बोधनं हे सदारव । वरद इष्टं कामदायक । अति शोभनं नताः प्रयुक्ताः अतिनताः अतिनतारश्च ते आर्याश्च अतिनतार्याः तान् भवति रक्षतीति अतिनतार्यावः तस्य सम्बोधनं हे अतिनतार्याव । वर्यं प्रधान । सभा एव अर्यावः समुद्रः सभार्यावः अतान्त अतिदभिन्नः अलुभितः सभार्यावः समवसृष्टिसमुद्रः यस्यासौ अतान्तसभार्यावः तस्य सम्बोधनं हे अतान्तसभार्याव । किमुक्तं भवति—हे अनन्त वर्ण-भादिविशेषणविशिष्ट अन्व पाञ्च्य मार्यामिति सम्बन्धः । अन्वारश्च पाञ्च्य ॥५४॥

अर्थ—हे अनुपम सौन्दर्यसे शोभायमान ! हे अष्ट महा-

१ इसलोकमें स्वेष्ट—मन आदा—पाद शेष तीन पादोंमें गूढ़ है तथा अक्रयद् नामक चित्रालंकार भी है ।

२ वर्णभ + आर्य + अतिनन्य + अन्व इति पदच्छेदः । अन्व रक्षेति क्रियापदम् ।

प्रातिहार्यरूप विभूतिसे सम्पन्न ! हे सुर-असुरोंके द्वारा बन्द-  
नीय ! हे उत्तम दिव्यध्वनिसे सहित ! हे इच्छित पदार्थोंके देने  
वाले ! हे अत्यन्त नम्र साधुपुरुषोंके रक्षक ! हे श्रेष्ठ ! हे चोभ-  
रहित ! समजसरण-समुद्रसे संयुक्त ! अनन्तनाथजिनेन्द्र !  
मेरी रक्षा कीजिये—मुझे संसारके दुःखोंसे बचाइये ॥५४॥

### अनन्त-जिन-स्तुतिः

(गूढद्वितीयतृतीयान्तरपादद्वयप्रथमश्लोकः)

नुन्नानृतोन्नतानन्त नूतानीतिनुताननः ।

नतोनूनोनितान्तं ते नेतातान्ते निनौति ना ॥५५॥

नुन्नेति—द्वितीयतृतीयान्तरपादो गुण्यते नकारप्रकारयोरेवास्तिरसं  
शान्येषां यतः ।

नुन्नं क्षिप्तं श्रुतं शसस्यं धेमासौ नुन्नानृतः तस्य सम्बोधनं हे  
नुन्नानृत अनेकान्तवादिन् । उन्नत महन् । अतन्त्यसम्भूतैर्गुणैर्यदि भट्टा-  
रकस्य उन्नतत्वं न भवति कस्यान्यस्य भविष्यति । अनन्त अपरिमाण भट्टार-  
कस्य नाम वा । नूताः स्तुताः शनीतयः सिद्धाः यैस्ते नूतानीतयः तैर्नुतं  
स्तुतं पूजितं आननं मुखं यस्य स्तोत्रुः असौ नूतानीतिनुताननः स्तुतिकर्ता  
पुरुषः । नतः प्रणतः । अनूनः शबिकलः सम्पूर्णः । अनितान्तं क्लेशरहितं,  
क्लेशरहितं यथा भवति क्रियाविशेषणमेतत् । ते रवां तुभ्यं वा । नेता नायकः  
इन्द्रादिः । अतान्ते अतान्तनिमित्तम् मोहनिमित्तमित्यर्थः । निनौति  
प्रणौति । ना पुरुषः चक्रधरादिः । किमुक्तं भवति—हे अनन्त नुन्ना-  
नृत उन्नत नेता निनौति नेता नायकोपि सन् । निरुद्धमेतत् । यदि नायकः  
कथमन्यस्य प्रणामं करोति अथ प्रणामं करोति कथं नायकः त्वां पुनः  
नौति नायकोपि मोहनिमित्तं ततस्त्वमेव नायकः ॥५५॥

३. नुन्नानृत + उन्नत + अनन्त इतिपदच्छेदः ।

अर्थ—एकान्तवादरूप समस्त असरयको नष्ट करनेवाले ! सर्वश्रेष्ठ ! हे अनन्तनाथ जितेन्द्र ! सिद्धपरमेष्ठीकी स्तुति करनेसे जिनके मुख पूज्य गिनेजाते हैं और जो आपके चरणोंमें नम्र रहते हैं ऐसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्त नायक-प्रधान पुरुष-भी मोक्षप्राप्तिके लिये बिना किसी क्लेशके—सहज स्वभावसे प्रेरित होकर—आपको नमस्कार करते हैं ।

भावार्थ—यद्यपि यह विरुद्ध बात है कि—जो स्वयं नायक होगा वह अन्यको प्रणाम कैसे करेगा ? और अभ्यको प्रणाम करेगा तो वह नायक कैसे होगा ? परन्तु आपको संसारके अन्य समस्त नायक नमस्कार करते हैं; क्योंकि आप ही उन सबमें श्रेष्ठ हैं और उस श्रेष्ठताका कारण यही है कि आपको नमस्कार करनेसे मोक्षप्राप्त होता है ॥५५॥

### धर्म-जिन-स्तुतिः

( गृहद्वितीयचतुर्थान्यतरपादोऽर्धभ्रमः )

त्वमबाध दमेनर्द्ध मत धर्मप्र गोधन ।

बाधस्वाशमनागो मे धर्म शर्मतमप्रद ॥५६॥

त्वमेति— त्वं भुवमक्षो रूपम् । न विद्यते बाधा यस्यासावबाधः । तस्य सम्बोधनं हे अबाध । दमेन उत्तमवृत्त्या क्रद्ध दृढ । मत पूजित । धर्मप्र उत्तमवृत्त्यादिना आप्यायकपूरण । गोधन गौर्वृत्तौ धनं यस्यासौ गोधनः तस्य सम्बोधनं हे गोधन । बाधस्व विनाशय । अशं दुःखम् । अनागः निर्दोष । मे मम । धर्मं पञ्चदशशीर्थकर । शर्म सुखम् । सर्वोक्ति

१ यहाँ द्वितीय अध्याय चतुर्थ पादमेंसे कोई एक पाद अन्य पादोंके अक्षरोंमें गुप्त है । इसके सिवाय यह अर्धभ्रम भी है ।



इमानि शर्माणि पतेषां मध्ये अतिशयेन इमानि शर्माणि शर्मतममिति  
 तानि प्रवृत्ताति यः सः शर्मतममव तस्य सम्बोधनं हे शर्मतममव ॥  
 एतदुक्तं भवति— हे धर्म आकाश धर्मेन खं मल धर्मम गोधन अभागः  
 शर्मतममव त्वं मे अर्थं वाधस्व ॥५६॥

अर्थ—हे वाधा (विनाश) रहित ! हे इन्द्रियदमन अथवा  
 क्षमासे वृद्ध ! हे पूज्य ! हे उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके पूरक-  
 धारक ! हे दिव्यध्वनिरूप ! धनसे सहित ! हे निर्दोष ! हे मोक्ष-  
 रूप उत्तम सुखके देनेवाले धर्मनाथ भगवन् ! मेरे दुःखको—  
 जन्ममरणकी बाधाको—नष्ट कीजिये ॥५६॥

(गतप्रस्थागतैकरक्षकः)

नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाक्षर ।

रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन ॥ ५७ ॥

रक्षेति—कम्पाटे गान्यकराणि विपरीतपाठेपि तान्येव । नतान्  
 प्रवृत्तान् पालयति रक्षतीति नतपालः तस्य सम्बोधनं हे नतपाल । महा-  
 न्तो राजानो यस्य स महाराजः 'टः सान्तः' तस्य सम्बोधनं महाराज ।  
 अथवा नतपाला महाराजा यस्यासौ नतपालमहाराजः तस्य सम्बोधनं  
 नतपालमहाराज ! मम गीत्यानुत अस्मत्तत्तधनेन पूजित । अक्षर अन-  
 श्वर । रक्ष पालय । मां अस्मदः ह्यन्तस्थ रूपम् । अतनुत्यागी अनल्प-  
 दाता । जराहा वृक्षत्वहीनः, उपलक्ष्यमेतत् जातिजराभरणहीन इत्यर्थः ।  
 मलं पापं अक्षयं पातयति नाशयतीति मलपातनः कर्तरि श्रुत् बहुलवच-  
 नात् । तस्य सम्बोधनं हे मलपातन । एतदुक्तं भवति—हे धर्म नत-  
 पाल महाराज गीत्यानुत मम अक्षर जराहा मलपातन रक्ष मां अतनुत्यागी  
 यतस्त्वम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे नम्रमनुष्योंके रक्षक ! हे मत्कृप (मेरे द्वारा की

१ लैनेन्द्रन्याकरवचन सूत्रमिदम्

गई) स्तुतिसे पूजित! हे अविनाशी! हे दुष्कर्मरूपी मलको नष्ट करनेवाले! धर्मनाथ महाराज! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे संसारके दुःखोंसे बचाकर अविनाशी मोक्षपद प्रदान कीजिये। क्योंकि आप महान् दाता हैं—सबसे बड़े दाता हैं और जन्म-जरा आदिको नष्ट करनेवाले हैं ॥ ५७ ॥

(मुरजः)

मानसादर्शसंक्रान्तं सेवे ते रूपमद्भुतम् ।

जिनस्योदयि सत्त्वान्तं स्तुवे चारूढमच्युतम् ॥५८॥

मानसेजि - मनः पूज मानसं चित्तमित्यर्थः मनसमेवादरीः दर्पणः मानसादर्शः मानसादर्शं संक्रान्तं प्रतिबिम्बितं मानसादर्शसंक्रान्तम् । सेवे भजामि । ते तव । रूपं शरीरक्रान्तम् । अद्भुतं आश्चर्यभूतम् । जिनस्य त्रैलोक्यनाथस्य । उदयि उदयान्वितम् । सत्तः शोभनस्य भावः सत्ता, सखस्यान्तं अवसानं परमकाष्ठा सत्त्वान्तम् । स्तुवे वन्दे । च समुच्चये । आरूढं अध्वारूढं । अच्युतं अहीनं अहरम् । चक्षुष्यार्थः । जिनस्य रूपं सेवेऽहं स्तुवे च किंविशिष्टं रूपं मानसादर्शसंक्रान्तम् । पुनरपि किंविशिष्टं अब्रूतं उदयि सत्त्वान्तमारूढं अच्युतमिति परम-भाक्तिकस्य वचनम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—मैं आपके उस अनुपम रूप-सौन्दर्यकी उपासना और स्तुति करता हूँ जो कि सब जीवोंको आश्चर्य करनेवाला है, सदा उदयरूप रहता है, उत्तमताकी पराकाष्ठा है, आरूढ है, विनाशरहित है और मेरे मनरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होरहा है ॥ ५८ ॥

(मुरजः)

यतः कोपि गुणानुक्त्या नावाग्धीनपि पारयेत् ।

न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् ॥५९॥

यतः इति—यतः यस्मान् । कोपि कश्चिदपि । गुणान् जित्वा-  
साधारण्यमान् । उक्त्वा वचनेन । नावा पोतेन । अग्नीन् समुद्रान् । अग्नि  
संभावने । पायेत् प्लवताम् । न प्रतिषेधे । तथापि एवमपि । अथात्  
अग्निसंकोचात् समयाद्वा । भक्त्या सेवया । तव ते । आत्मानं स्वम् । तु पुनः ।  
पावयेत् पवित्रीकुर्यात् । समुद्रावार्थः—यतो निश्चितं जेतो मम नावाग्धीनपि  
पारयेत् तव गुणाननन्दान् कश्चिदपि न पारयेत् यद्यपि तथापि कथात्  
भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् । कृतवृत्तत् स्तुतिमाहात्म्यात् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! यदि कोई चाहे तो नावके द्वारा समुद्रों-  
को पार कर सकता है । परन्तु स्तुतिरूप वचनोंसे आपके गुणों-  
को पार नहीं कर सकता—आपके गुण अनन्त हैं । यद्यपि यह  
निश्चित है तथापि भक्तपुरुष ज्ञानभरकी आपकी भक्तिसे अपने  
आपको पवित्र बना सकता है—आपकी भक्तिका माहात्म्य  
अचिन्त्य है ।

भाषार्थ—हे भगवन् ! आपके अनन्त गुणोंका वर्णन  
करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है फिर भी भक्त्यप्राणी  
आपकी भक्तिरूप शुभ भावनासे अपनी आत्माको पवित्र बना  
लेते हैं—अशुभकर्मसे रहित कर लेते हैं और परम्परासे मोक्ष-  
भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ १६ ॥

( मुरजः )

रुचं विभर्ति ना धीरं नायातिस्पष्टवेदनः ।

वचस्ते भजनासारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

वचमिति—रुचं दोषि तेजः । विभर्ति धरते । ना पुरुषः ।  
धीरं शरीरं साष्टम्भं यथा भवति क्रियाविशेषणमेतत् । हे नाथ  
स्वामिन् अतिस्पष्टवेदनः अतिस्पष्टं विशदं वेदनं विज्ञानं यस्यास्ता-  
वतिस्पष्टवेदनः । वचः वचनम् । ते तव । भजनात् सेवनात् । सारं पुर-

मतस्त्वभूतम् । यथा इदार्थे । अथो जोहव । स्पर्शवेदिनः । सुवर्णभाव-  
कारिणः स्पर्शपाषाणस्य भजनात् सेवनात् । अथ समुदायार्थः कथ्यते—  
हे नाथ त्वं ह्यहं विभक्तिं ते भजनात् वचश्च सारं धीरं यथाभवति किं  
विशिष्टः सत्त्वा अतिस्पष्टवेदनः । कथं ? दृष्टान्तं प्रदर्शयति यथा अयः  
स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

अर्थ—हे नाथ ! जिस प्रकार पारस पत्थरके स्पर्शसे लोहा  
( सुवर्णरूप होकर ) तेज धारण करता है और उसके फल-  
स्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ होजाता है उसी प्रकार भग्य पुरुष भी  
आपकी सेवासे—आराधनासे—अत्यन्त प्रत्यक्ष केवलज्ञानसे  
सहित होता हुआ विशुद्ध-सुस्थिर आत्मीय तेजको धारण कर  
लेता है । तथा उसके वचन भी श्रेष्ठ होजाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी भक्तिसे पुरुष केवलज्ञान  
तथा सात्तिशय दिव्य ध्वनिको प्राप्त होते हैं ॥ ६० ॥

( मुरजः )

प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां कल्याणरोतः स्वयानतः ।

अप्यपूर्वार्थसिद्धयेगां कल्याणकृत भवान् युतः ॥६१॥

प्राप्येति—प्राप्य कृत्वा । सर्वार्थसिद्धिं विश्वकार्यनिष्पत्तिम् । गां  
पृथिवीम् । कल्याणरोतः कल्याणानि स्वर्गाधत्तरेणादीनि इतः प्रातः कल्या-  
णरोतः । स्ववान् आत्मवान् । अतः अस्मात् । अपि । अपूर्वार्थस्य केवल-  
ज्ञानादिचतुष्टयस्य सिद्धिः प्राप्तिः अपूर्वार्थसिद्धिः तथा अपूर्वार्थसिद्ध्या  
केवलज्ञानादिप्राप्त्या । इनां इहां चेष्टां विहरयम् । हे कल्य समर्थ ! अकृत  
कृतवान् । भवान् महारकः । युतः युक्तः । समुदायार्थः—भवान्  
कल्याणरोतः सन् पुनरपि आत्मवान् सन् प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां अस्मादूर्ध्वं  
अपूर्वार्थसिद्ध्या युतोपि हे कल्य त्वं तथापि चेष्टां विहरयं अकृत अतः  
सत्यमेतत् “परार्था हि सतां चेष्टा” ॥ ६१ ॥

अर्थ—हे कल्प-समर्थ ! जहाँ सब अर्थों—प्रयोजनोंकी सिद्धि—पूर्ति होती है ऐसी सर्वार्थसिद्धि<sup>१</sup> नामक पृथिवीको पाकर गर्भ-जन्म आदि कल्याणकोंसे सहित हो आप स्वयान्—आत्मवान् (पक्षमें धनवान्) हुए थे—उत्पन्न हुए थे तथा इसके बाद आपने अनन्तचतुष्टयरूप अपूर्व अर्थकी सिद्धिसे सहित होनेपर भी विहार किया था। (हे भगवन् ! इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि 'परार्था हि सतां चेष्टा'—सत्पुरुषोंकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिये ही होती हैं)।

भावार्थ—जो पुरुष ऐसे स्वयन्को पा चुका हो जहाँ उसके सब मनोरथोंकी पूर्ति होती हो, अनेक कल्याण अथवा मंगलोंसे सहित हो, स्व-धन भी उसके पास पर्याप्त हो तथा इसके साथ अनोखे २ पदार्थोंकी प्राप्ति भी सदा होती रहती हो। सारांशतः—हर एक तरहसे सुखी हो—वह मनुष्य फिर भी यदि जहाँ तहाँ भ्रमणकर उपदेश आदि देनेकी चेष्टाएँ करता हो तो उसमें उसका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं रहता। उसकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिये ही रहती हैं। प्रकृतमें—भगवान् धर्मनाथ भी पूर्वमें तपस्या करके सर्वार्थसिद्धि विमानको प्राप्त हुए थे। वहाँसे चयन कर जब वे पृथिवीपर आनेको उद्यत हुए तब देवोंने गर्भ-जन्म कल्याणक किये। गर्भमें आनेके छह माह पहले से—पन्द्रह माह तक—प्रतिदिन साढ़े दश करोड़ रत्नोंकी वर्षा की। इसके बाद जब ये दीक्षित हुए तब देवोंने तपःकल्याणक किया और जब इन्हें अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्तसुख और अनन्त वीर्यरूप अपूर्व अर्थकी प्राप्ति हुई तब भी देवोंने ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया—फलतः भगवान् धर्मनाथके

१ भगवान् धर्मनाथ सर्वार्थसिद्धि विमानसे चयन कर गर्भमें अव-  
तीर्ण हुए थे। —धर्मशर्माभ्युदय ।

निजके सब मनोरथ पूर्ण होचुके थे फिर भी इन्होंने जो अनेक आर्य देशोंमें बिहारकर सब जीवोंको हितका उपदेश देनेकी चेष्टा की थी उसमें उनका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं था। केवल संसारके पथभ्रान्त पुरुषोंको सुपथ पर लाना ही उनका प्रयोजन था। इस श्लोकमें 'सर्वार्थसिद्धि' 'कल्याण' 'स्व' और 'अपूर्वार्थ' ये पद श्लिष्ट हैं—द्विअर्थक हैं, जिनका समन्वय ऊपर प्रकट किया गया है।

इस श्लोककी रचनाके पहले आचार्यके सामने अव्यक्त रूपसे एक प्रश्न उपस्थित होता है कि—जिनेन्द्रदेव जब मोहनीय कर्मका लय कर चुकते हैं—अपनी सब इच्छाओंका लय कर चुकते हैं—तब बिना इच्छाके उनका बिहार और उपदेश कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर भी आचार्य समन्तभद्रने अव्यक्त रूपसे इसी श्लोकमें दिया है अर्थात् निजका कुछ प्रयोजन न रहते हुए भी जिनेन्द्रदेवका बिहार आदि होता है—सिर्फ परोपकारके लिये। यद्यपि वास्तवमें भगवान्के परोपकार करनेकी भी इच्छा नहीं रहती; क्योंकि वे इच्छाओंके मूलभूत मोहनीय कर्मका लय कर चुकते हैं—उनकी समस्त क्रियाएँ मेघोंकी तरह, सिर्फ भव्य जीवोंके सौभाग्यसे ही होती हैं। आचार्यने रत्नकरण्ड आलकाचारमें स्वयं कहा है कि 'अनात्मार्थं विना रागैः शास्त्रा शास्ति सतो हितम्। ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते'।

(मुरजः)

भवत्येव धरा मान्या सूदातीति न विस्मये ।

देवदेव पुरा धन्या प्रोद्यास्यति भुवि श्रिये ॥ ६२ ॥

भजतीति—भवति मङ्गलकेत्वयि । एव अवधारणम् । धरा पृथिवी । मान्या पूज्या । सूदाति उद्गच्छति प्रभवति । इति वस्मात् । न विस्मयेह

न समाख्यते । हे देवदेव देवानां देवः देवदेवः तस्य सम्बोधनं हे देवदेव परमेश्वर । पुरा पूर्वमेव । धन्या पुण्या । प्रोद्यात्यति प्रोद्गमिष्यति प्रभविष्यति । भुवि अस्मिन् लोके । श्रिये श्रीनिमित्तम् । समुदायेनार्थः कथ्यते— हे देवदेव सूचाति भवति भगवति भरा मान्या भवतीति न विस्मयेऽहम् । यतः प्रोद्यात्यति भगवति पुरैव धन्या भुवि श्रीनिमित्तम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—हे देवोंके देव ! यह पृथिवी आपके जन्म लेनेसे हो पूज्य मानी जाती है—इस विषयमें मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं है; क्योंकि आपके जन्म लेनेसे पहले ही यह पृथ्वी रत्नवर्षा आदिके द्वारा धन्य गिनी जाने लगती है तथा लक्ष्मीसे सम्पन्न हो जाती है ।

भावार्थ—जब तोर्थकर भगवान् गर्भमें आते हैं उसके छह मास पहलेसे ही कुवेर सुन्दर नगरीकी रचना करता है, उसे धनधान्य सुवर्ण रजत आदिसे सम्पन्न करता है और जन्म-समय तक अर्थात् पन्द्रह मास तक प्रतिदिन रत्नोंकी वर्षा किया करता है । हे प्रभो ! जब आपके उत्पन्न होनेके पहले ही यह पृथ्वी उत्तम हो जाती है तब आपके जन्म लेनेसे क्यों न उत्तम मानी जावेगी ? अवश्य मानी जावेगी ॥ ६२ ॥

( मुरजः )

एतच्चित्रं पुरो धीर स्तपितो मन्दरे शरैः ।

जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरैः ॥६३॥

एतदिति—एतत् प्रत्यक्षवचनम् । चित्रं आश्चर्यम् । पुरः पूर्वस्मिन् काले । धीर गभीर । स्तपितः अभियेकितः । मन्दरे मेरुमस्तके । शरैः पानीयैः । जातमात्रः उत्पत्तिस्थले । स्थिर सावष्टम्य । ददार दानशील महन् । क्वापि एकस्मिन्नपि काले । त्वं युष्मदो रूपम् । अमरेश्वरैः देवदेवेश्वरैः । समुदायार्थः—हे धीर मन्दरे शरैः त्वं स्तपितः जातमात्रः सन् हे स्थिरोदार अमरेश्वरैः पुरः क्वापि । चित्रमेतत् । कथं चित्रम् ?

बालस्य अस्माभिर्मन्दरे [ गमनं स्नपनं वा ] क्वापि न दृष्टं यतः ततः  
आश्चर्यम् । अथवा एवं चित्रमेतत् भट्टारके तीर्थे सर्वेपि प्राणिनः स्नान्ति,  
कथं पुरा देवैर्मन्दरे स्नपितश्चोद्यमेतत् । अथवा यो भवादृशः शरैः स  
कथं स्नाप्यते तथापि भवान्, देवैः शरैः पानीयैः स्नपितः चित्रमेतत् ॥६३॥

अर्थ—हे धीर ! हे स्थिर ! हे उदार ! आपके उत्पन्न होते  
ही सबसे पहले, समस्त देव और इन्द्रोंने अद्भुत-अत्यन्त-  
उत्पुङ्गु एवं शोभा-सम्पन्न मेरु पर्वतपर नीरसागरके जलसे आपका  
अभिषेक किया था यह आश्चर्यकी बात है ।

भावार्थ—यहां आश्चर्य निम्न बातोंसे हो सकता है—  
तत्कालमें उत्पन्न हुआ बालक मेरुपर्वतपर पहुँच जावे यह  
बात कभी देखनेमें नहीं आई इसलिये यह बात आश्चर्यजनक  
है अथवा तत्कालमें उत्पन्न हुए बालकका योजनों प्रमाण एक  
हजार आठ कलशोंमें अभिषेक किये जाने पर भी वह ज्योंका  
त्यों स्थिर रहा आवे यह आश्चर्यकी बात है । अथवा जिसके  
तीर्थमें—उपविष्ट धर्ममें संसारके समस्त प्राणी स्नान करते हैं—  
तदनुकूल आचरणकर आत्मकल्याण करते हैं—उसका किसी  
दूसरेके द्वारा अभिषेक किया जाना आश्चर्यकी बात है । अथवा  
लोकोत्तर—सर्वश्रेष्ठ-प्रभावशाली—प्रभुका अभिषेक इन्द्रोंने  
जल-जैसे न-कुछ-तुच्छ पदार्थसे किया यह आश्चर्यकी बात  
है । अथवा जो स्वयं शुद्ध है और अपनी पवित्रतासे दूसरोंको  
पवित्र करनेवाला है उसको भी इन्द्र-जैसे बुद्धिमान् पुरुषोंने  
अभिषेक-द्वारा शुद्ध करनेकी व्यर्थ चेष्टा की यह बात आश्चर्य  
करनेवाली है । अथवा इन्द्रने शरसे—घृण अथवा नाशसे  
आपका अभिषेक किया जोकि असंभव होनेसे आश्चर्यकारी  
है ( परिहार पक्षमें शरका अर्थ जल लिया जावेगा ) ।

इस श्लोकमें कविने जिन बातोंसे आश्चर्य प्रकट करते हुए  
विरोध प्रकट किया है उन सबका परिहार 'धीर' 'स्थिर' और



‘उदार विशेषणोंसे होजाता है। यथा—हे भगवन् ! आप इतने धीर और स्थिर हैं—इतने शक्तिशाली हैं—कि उत्पन्न होते ही निम्नानवे हजार योजन ऊँचे मेरुपर्वत पर एक हजार आठ कलशोंसे अभिषेक होनेपर भी आपमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं हो पाया। आपका अतुल्य बल प्रशंसनीय है। हे प्रभो ! आप इतने उदार हैं महान् हैं—कि अल्पश्लोके द्वारा की हुई निःसार क्रियाओंसे आपको रोष नहीं आता—आप अपनी अगाध क्षमतासे सबको क्षमा कर देते हैं ॥ ६३ ॥

( अनन्तरपादमुरजः )

तिरीटघटनिष्ठं तं हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ।

पदे स्नातः स्म गोक्षीरं तदेदित भगोश्चिरम् ॥ ६४ ॥

तिरीटेति—तिरीटानि मुकुटानि शान्धेय घटाः कुम्भाः तिरीटघटाः तन्निष्ठं तं निर्गमितं तिरीटघटनिष्ठं तम् । देवेन्द्रचक्रधरादिमुकुट-घटनिष्ठम् । हारि शोभनम् । हन्द्वाघविनिर्मितं देवेन्द्रसमितिवि-चितम् । हन्द्वाघाघोषः हन्द्वाघः तेन विनिर्मितं कृतं हन्द्वाघविनिर्मितम् । पदे पादौ । स्नातः स्म स्नातवन्तौ । गोक्षीरं रश्मिपथः । अथवा पदे पदनिमित्तं स्नातः स्म स्नातवन्तौ गोक्षीरम् । तदा स्नानानन्तरं सुरेन्द्रैः प्रणामकाले । हेदित पूजित । भगोः भगवन् । चिरं अर्थः सुखं इत्यर्थः । किमुक्तं भवति—हे भगवन् हेदित स्नानकाले ते पदे गोक्षीरं स्नातः स्म । किं चिदिह गोक्षीरं तिरीटघटनिष्ठं तं हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे पूज्य ! अभिषेकके बाद इन्द्रोंके समूहने जब आपके चरणकमलोंको नमस्कार किया था, तब उनके मुकुटरूपी घटसे मनोहर किणूरूपी दुग्ध प्रकट हुआ था, उसमें आपके चरण-कमलोंने भानो चिरकालतक स्नान किया था ।

[जन्माभिषेक हो चुकनेके बाद इन्द्र-समुदाय जिस अभिषिक्त बालकके चरणोंमें मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं, नमस्कारके समय इन्द्रोंके मुकुटोंकी शुक्ल किरणें उस भगवान्के चरणोंपर पड़ती हैं उससे ऐसा मालूम होता है मानों भगवान्के चरण इन्द्रोंके मुकुटरूपी घटोंसे झरते हुए किरणरूप दूधमें स्नान कर रहे हों। यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारसे वर्णन किया गया है। रत्नोक्तमें आये हुए 'पदे' शब्दको 'पद' शब्दसे चतुर्थ्यन्त मानकर पुनः आवृत्ति करने और 'चिर' शब्दपर अधिक लक्ष्य देनेसे एक और विचित्रभाव प्रतीत होने लगता है।]

भवार्थ—'इन्द्रोंने भगवान्का अभिषेक क्षीरसमुद्रके जलसे जो कि क्षीरके समान था, किया था। उससे उनका शरीर क्षीर-जैसा धवल हो गया था। अभिषेक पूर्ण हो चुकने पर इन्द्रने उत्तम वस्त्रसे जब उनके शरीरको पोछ लिया तब उसपरसे क्षीरकी प्रभा दूर होगई थी। परन्तु चरणकमलों पर नमस्कारके समय इन्द्रोंके मुकुटोंकी सफेद किरणें फिर भी पड़ रही थीं इसलिये चरण-कमल वस्त्रसे पोछे जाने पर भी सफेद सफेद दिख रहे थे। उससे ऐसा मालूम होता था कि भगवान्के पदे—चरण, पदे ( चतुर्थ्यन्त ) किसी उत्तम पदको पानेके लिये शरीरके अन्य अवयवोंकी अपेक्षा चिर काल तक स्नान करते रहे हों। जो इतरजनोंकी अपेक्षा अपने आपको किसी अधिक उत्कर्षको प्राप्त कराना चाहता है उसको दूसरे जनोंकी अपेक्षा अधिक तल्लीनताके साथ उस कामको करना पड़ता है—यह स्वाभाविक बात है। चरणोंने चिरकाल तक क्षीरस्नानके द्वारा अपने आपको अत्यन्त पवित्र बना लिया था इसीलिये मानों इन्द्र आदि लोकोत्तर पुरुष उनके चरणोंको नमस्कार करते थे—हस्त, उदर और मस्तक आदिको नहीं ॥६४॥

( मुरजबन्धः )

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगतेः ।

उत क्रीतोथ संकीर्णो गुरोरपि नु संमतेः ॥६५॥

कुत इति—कुतः कस्मात् । एतः आगतः । नु वितर्के । तन् शोभनः । वर्णः रूपं दीप्तिस्तेजः । मेरोः मन्दररूपः । ते तत्र । अपि च किं ननु इत्यर्थः । संगतेः सङ्गमान् मेलापकात् । उत वितर्के । क्रीतः द्रव्येण गृहीतः । अथ आहोस्त्वित् । संकीर्णः वर्णसंकरः । गुरोः भर्तुः । अपि तु उताहो । संमतेः आज्ञायाः । किमुक्तं भवति—मेरोर्योऽयं सन् वर्णः स कुतः आगतः किं ते संगतेः उत क्रीतः अथ सङ्कीर्णः । अपि तु गुरोः संमतेः । ननु निश्चितोऽस्माभिस्तत्र संमतेः ॥६५॥

अर्थ—हे भगवन् ! हम लोगोंको अब तक सन्देह था कि मेरु-पर्वतका ऐसा सुन्दररूप कहाँसे आया ? क्या आपकी संगतिसे अथवा आपका वहाँ जन्माभिषेक होनेसे उसका वैसा सुन्दररूप होगया ? या मूल्य बेकर खरीदा गया अथवा किसी अन्य सुन्दर वस्तुका रूप उसमें संकीर्ण कर दिया गया—मिला दिया गया ? परन्तु अब हमें निश्चय होगया कि मेरुका वह सुन्दररूप आपकी संगतिसे—आज्ञाभावेसे—होगया है, किसी दूसरी जगहसे नहीं आया है ।

भावार्थ—जिस मेरु पर्वतपर जिस बालकका अभिषेक होता है वह पर्वत सुवर्ण और रत्नोंकी कान्तिसे अत्यन्त मनोहर होता है । यहाँ आचार्यने भक्तिमें तल्लीन होकर बतलाया है कि मेरु-पर्वतका वह अत्यन्त सुन्दररूप भगवान् धर्मनार्थकी संगतिसे ही हुआ था । हे प्रभो ! अब आपकी संगतिसे—आज्ञासे—एक अचेतन पदार्थ भी सद्गुरु—सुवर्ण या उत्तम रूपको पा सकता है तब आपकी आज्ञासे—आपके सम्यग्ज्ञानसे अथवा आपके सम्यक मनन ध्यान या अनुभवनसे सचेतन प्राणी सद्गुरु—उत्तमरूप

धारी, उच्चकुली अथवा उत्तम यशसहित हो जाये तो इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि आप गुरु हैं—सर्वश्रेष्ठ, महान् या स्वामी हैं । अथवा आपकी संमतिसे सचेतन शिष्य सद्गुरुको—उत्कृष्ट अक्षरपरिज्ञानको—प्राप्त हो जायें तो क्या आश्चर्य है ? क्योंकि आप गुरु हैं—उपाध्याय हैं । गुरुकी संमतिसे शिष्यको क्या नहीं प्राप्त हो जाता ?

(अनन्तरपावसुरजः)

हृदि येन धृतोऽसीनः स दिव्यो न कुतो जनः ।

त्वयारूढो यतो मेरुः श्रिया रूढो मतो गुरुः ॥६६॥

हृदीति—हृदि हृदये । येन अनेन । धृतो धिधृतः । असि भवसि । हनः स्वामी इति कृत्वा । सः पूर्वोक्तः प्रतिपादकः । दिव्यः पुण्यवान् कृतार्थ इत्यर्थः । न कुतः न कस्मात् । जनः भव्यलोकः । त्वया भट्टारकेण । आरूढः अधिष्ठितः । यतो यस्मात् । मेरुः गिरिराजः । श्रिया लक्ष्म्या । रूढः प्रख्यातः श्रीमान् जातः । मतः शतः । गुरुः महान् । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे भट्टारक त्वं येन अनेन हृदि धृतो भवसि हन इति कृत्वा स जनः कुतो न दिव्यः किन्तु दिव्य एव । यतो मेरुपर्वत इत्यर्थः सन् श्रिया रूढः मतः गुरुश्च मतः ॥६६॥

अर्थ—हे भगवन् ! जिस भठ्य जीवने आपको स्वामी मान कर अपने हृदयमें धारण किया है वह पुण्यवान् क्यों न होगा ? अवश्य होगा । क्योंकि मेरुपर्वत, आपके द्वारा अधिष्ठित होनेसे ही श्रीसम्पन्न और महान् होगया था ।

भावार्थ—सुवर्ण और रत्नोंसे खचित होनेके कारण मेरुपर्वत श्रीमान्—लक्ष्मीसम्पन्न अथवा शोभासे युक्त—कहा जाता है और एक लाख योजन ऊँचा होनेके कारण गुरु—महान् कहा जाता है । यही कवि का विश्वास है कि मेरुपर्वतको जो असीम श्री—लक्ष्मी अथवा शोभा और महत्ता—प्राप्त हुई है वह आपके

ही अधिष्ठानसे हुई हैं। यदि आपका उसपर जन्माभिषेक न होता तो वह कभी भी इतना श्रीमान् और महान् नहीं बन सकता। यहाँ मेरुपर्वतके उदाहरणसे यह बात ध्वनित की गई है कि जब आपके आश्रयसे अचेतन—पर्वत—भी श्रीसम्पन्न और महान् हो सकता है तब सचेतन—भक्तिभावसे परिप्लुत—भव्य प्राणी आपको हृदयमें धारणकर—आपका ध्यान-स्मरण कर—यदि दिव्य—पुण्यवान् इन्द्र अहमिन्द्र आदि—हो और क्रमसे अनन्तचतुष्टयरूप श्रीसे सम्पन्न होकर समस्त विश्वसे गुरु—श्रेष्ठ हो जावे तो क्या आश्चर्य है ? ॥६६॥

### शान्ति-जिन-स्तुतिः

( मुरजः )

चक्रपाणेदिशामूढा भक्तो गुणमन्दरम् ।

के क्रमेणोद्देशा रूढाः स्तुवन्तो गुरुमक्षरम् ॥६७॥

चक्रेति—चक्रपाणेः चक्रवर्तिनः पूर्वाश्यावस्थाविशेषणमेतत् । दिशामूढा दिग्मूढा अविज्ञातदिकः । भक्तः भट्टारकस्य । गुणमन्दरं गुण-पर्वतम् । के किमो रूपम् । क्रमेण न्यायेन परिपाठ्यः । उद्देशा उद्देश्यतेन । रूढाः प्रख्याताः । स्तुवन्तो वन्द्यमानाः । गुरुं महान्तम् । अक्षरं अनन्द-रम् । किमुक्तं भवति—चक्रपाणेर्भवतः गुणमन्दरं हैदरा क्रमेण मुरज-वन्द्यचक्रवृत्तैः स्तुवन्तः रूढाः के नाम दिशामूढाः अपि तु न भवन्त्येव । किं विशिष्टं गुणमन्दरं गुरुं अक्षरम् ॥६७॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप चक्रवर्ती हैं—राज्य अवस्थामें आपने चक्ररत्न हाथमें लेकर पट्खण्ड भरत क्षेत्रकी दिग्विजय की थी । इस क्रमसे—मुरजबन्ध चक्रवृत्त आदि चित्रबद्ध स्तोत्रोंसे—आपके

अविनाशी और सहान् गुणरूपी मेरुपर्वतकी स्तुति करनेवाले कौन प्रसिद्ध पुरुष दिशाभूल हुए हैं ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

भावार्थ—मेरुपर्वत हर एक जगहसे उत्तर दिशामें पड़ता है इसलिए जो मेरुपर्वतको प्रत्येक क्षण देखता रहता है वह कभी दिशा नहीं भूल सकता—वह मेरुको देखकर अपनी इष्ट-दिशाको पहुँच सकता है । यहाँ आचार्यने भगवान् शान्तिनाथ के गुणोंको मेरुपर्वतका रूपक दिया है । उससे यह अर्थ स्पष्ट होता है कि जो पुरुष भगवान् शान्तिनाथके गुणरूप मेरुपर्वतकी स्तुति करेगा वह संसारकी अन्य उलझनोंमें उलझ जानेपर भी अपने कर्त्तव्य-मार्गको नहीं भूलेगा । वह अपने सबसे उत्तर—सबसे श्रेष्ठ—मार्गको अनायास ही पा जावेगा । अब भी तो रास्ता भूल जानेपर मनुष्य किसी ऊँचे पहाड़ या पेड़ जगैरह को लक्ष्यकर अपने इष्ट स्थान पर पहुँचते हैं । ॥६७॥

( मुग्धबन्धः )

त्रिलोकीमन्वशास्संगं हित्वा गामपि दीक्षितः ।

त्वं लोभमप्यशान्त्यंगं जित्वा श्रीमद्विदीशितः ॥६८॥

त्रिलोकीति—त्रिलोको त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी “रादितिहोविधिः” तां त्रिलोकीम् । मन्वशाः अनुशास्तिस्म अनुशा-  
सितत्वात् । त्वं परिग्रहम् । हित्वा त्यक्त्वा । गामपि पृथिवीमपि ।  
दीक्षितः प्रव्रजितः । त्वं युष्मद्वोरूपम् । लोभमपि लङ्गतचित्तमपि ।  
तृष्णामपि । अशान्त्यङ्गं अनु प्रशमनिमित्तम् । शान्तेः अङ्गं कारणं  
शान्त्यङ्गं न शान्त्यङ्गं अशान्त्यङ्गम् । जित्वा विजित्य । श्रीमद्विदीशितः  
सप्तश्रीमद्वृक्षानीश्वरः । विद्यामोक्षितः विदीशितः श्रीमांशसौ विदीशितः  
श्रीमद्विदीशितः । किमुक्तं भवति— हे शान्तिमहेश्वर त्वं त्वं हित्वा  
गामपि दीक्षितः सन् त्रिलोकीमन्वशाः लोभमपि अशान्त्यङ्गं जित्वा श्रीम-  
द्विदीशितः सन् ॥६८॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आप समस्त परिग्रह और समस्त पृथिवीको छोड़कर दीक्षित हो गये थे—नग्न दिगम्बर हो जङ्गल-में जाकर तपस्या करने लगे थे—तथापि आपने तीनों लोकोंको अनुशासित किया था—लोकत्रयके समस्त प्राणी आपके उप-दिष्ट मार्ग पर चलते थे। इसके सिवाय आपने अशान्तिके कारणरूप लोभको भी जीत लिया था फिर भी आप लक्ष्मीवान् और विद्यावानोंमें ईश्वर गिने जाते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्यने 'अपि' शब्दसे विरोध प्रकट किया है। लोकमें देखाजाता है कि जो पृथिवीका मालिक होता है—धनधान्य-का स्वामी होता है—और सेना बगैरह अपने पास रखता है वही कुछ मनुष्योंपर—अपने आश्रित देशमें रहनेवाले लोगोंपर—शासनकर पाता है; परन्तु आपने शासन करनेके सब साधनोंको छोड़ देनेपर भी कुछ नहीं किन्तु तीनों लोकोंके लोगोंपर शासन किया है यह विरुद्ध बात है। यहां शासनका अर्थ मोक्षमार्गका उपदेश लेनेपर विरोधका परिहार होजाता है। इसी प्रकार जो लोभ और लृप्तासे सहित होता है वही धनधान्यादिक लक्ष्मीको अपने पास रखता है परन्तु आप लोभको जीतकर भी श्रीमान्—लक्ष्मीवानोंके ईश्वर—बने रहे यह विरुद्ध बात है, परन्तु श्रीमान्का अर्थ अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित लेनेपर विरोधका परि-हार हो जाता है ॥ ६८ ॥

( भुरजबन्धः )

केवलाङ्गसमारलेषबलाढ्य महिमाधरम् ।

तव चर्गा क्षमाभूषलीलाधाम शमाधरम् ॥६९॥

केवलेति—केवलं केवलज्ञानम् । अङ्गं शरीरम् । केवलमेव अङ्गं केवलाङ्गं केवलज्ञानेन समारलेषः सम्बन्धः आलिङ्गनं केवलाङ्गसमारलेषः

तस्य तेन तदेव वा यत्नं सामर्थ्यं केवलाङ्गसमारलोषवत्त्वं तेन आढ्यः परि-  
पूर्वः केवलाङ्गसमारलोषवत्त्वाढ्यः तस्य सम्प्रोद्यमं हे केवलाङ्गसमारलोष-  
वत्त्वाढ्य । अथवा केवलाङ्गसमारलोषवत्त्वाढ्यो महिमा केवलाङ्गसमारलोषव-  
त्त्वाढ्यमहिमा तां धरतीति अंगस्यैव विशेषणम् । महिमा महात्वं महि-  
मानं आधरतीति महिमाधरं महात्म्यावस्थानम् । तव ते । च अवधार-  
णोऽयं दृष्टव्यः । अंगं शरीरम् । जमेव भूषः यस्य तत् रुमाभूषम् । लीलाणां  
कमनीयानां धाम अवस्थानं लीलाधाम । जमाभूषं च तत् लीलाधाम  
च तत् रुमाभूषलीलाधाम । शमस्य उपशमस्य आधरः गौरवं यस्मिन्  
तत् रुमाधरम् । अङ्गमिति सन्धन्वः । समुच्चयार्थः—हे शान्तिमहारक  
केवलाङ्गसमारलोषवत्त्वाढ्य महिमाधरं तव आङ्गं किं विशिष्टं जमाभूष-  
लीलाधाम रुमाधरम् । किमुक्तं भवति—तवैवाङ्गमरीचभूतं चान्दरम् ।  
अतस्तवमेव परमात्मा इत्युक्तंभवति ॥ ६६ ॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप शरीरसे आलिङ्गित तथा अनन्त बलसे  
सहित हे शान्तिनाथ जिनेन्द्र ! आपका यह परमौदारिक शरीर  
बड़ी महिमाको धारण करनेवाला है, जमारूप अलंकारसे अलं-  
कृत है, सुन्दरताका स्थान है और शान्तिरूपता—सौम्यतारूप  
गौरवसे सहित है ।

श्लोकमें जो 'च' शब्द आया है उसका अवधारण अर्थ है ।  
इसलिये श्लोकका भाव होता है—कि हे भगवन् ! ऐसा शरीर  
आपका ही है अन्यका नहीं है अतः आप ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं ।  
यहां यह याद रखना चाहिये कि भगवान् शान्तिनाथ 'कामदेव',  
पदवोके भी धारक थे ॥ ६६ ॥



( सुरजबन्धः )

त्रयोल्लोकाः स्थिताः स्वैरं योजनेधिष्ठिते<sup>१</sup> त्वया ।

भूयोन्तिकाः श्रितास्तेरं राजन्तेधिपते श्रिया ॥७०॥

त्रय इति—त्रयोल्लोकाः भवन्वासीव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवा-  
 सिमनुष्यतिर्यङ्मः । स्थिताः स्वैरं स्वेच्छया योजने समव्युत्तियोज-  
 नचतुष्टये । अधिष्ठिते अध्यासिते । त्वया युष्मदो भान्तस्य रूपम् । भूयः  
 बाहुव्येन पुनरपि वा । अन्तिकाः समोपस्थाः । श्रिताः आश्रिताः । ते  
 तव । अरं अत्यर्थम् । राजन्ते शोभन्ते । अधिपते परमात्मन् । श्रिया  
 लक्ष्म्या । समुच्चयार्थः—हे महारक त्वया अधिष्ठिते योजनमात्रे त्रयो-  
 ल्लोकाः स्वैरं स्थिताः भूयोऽन्तिकाः श्रिताः सन्तः ते अधिपते श्रिया अरं  
 राजन्ते ॥ ७० ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! आप जिस समवसरणमें विराजमान  
 हुए थे उसका विस्तार यद्यपि साढ़े चार योजनमात्र था तथापि  
 उसमें भवन्वासी व्यन्तर ज्योतिषी कल्पवासी मनुष्य तिर्यञ्च  
 आदि तीनों लोकोंके जीव बहुत ही स्वच्छन्दताके साथ बैठ जाते  
 थे । और जो आपके समीप आकर आपका आश्रय लेते हैं—  
 आपका ध्यान करते हैं—वे शीघ्र ही आप जैसी उत्कृष्ट लक्ष्मीसे  
 सुशोभित होते हैं—आपके समान परमात्मपदको पा लेते  
 हैं ॥ ७० ॥

१ यद्यपि श्लोकमें 'योजने' यह सामान्य पद है तथापि 'द्वादशयो-  
 जनतस्ताः क्रमेण चाक्षार्धयोजनन्यूनाः । तावद्यावन्नेमिश्चतुर्थभागोनिताः  
 पक्षतः' ( समवसरण स्तोत्रे, विष्णुसेनः ) आदि प्रसिद्ध उल्लेखोंसे साढ़े  
 चार योजन अर्थ सेना आहिये ।

( मुरसबन्धः )

परान् पातुस्तवाधीशो बुधदेव भियोषिताः ।

दूराद्धातुमिबानीशो निधयोवज्जयोज्जिताः ॥७१॥

परंति—परात् शत्रुः सम्यग् रक्तस्य । तव ते । अधीशः स्वाभिनः  
बुधानां परिहृतानां देवः परमात्मा बुधदेवः तस्य सम्बोधनं हे बुधदेव  
सत्यपरमात्मन् । भिया भयेन । उषिता स्थिताः 'बन्धु निवासे इत्यस्य  
धोः क्तान्तस्य कृतान्तित्वस्य रूपम्' । दूरात् दूरेण हातुमिव त्यक्तुमिव ।  
अनीशाः असमर्थाः निधयः निधानानि । अवज्जयोज्जिताः अनादरेण  
एवक्ताः । अस्य पृथं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे देवदेव परान् पातुः  
तवाधीशः त्वया निधयोवज्जया उज्जिताः भिया दूरेण उषिताः त्वा हातु-  
मिव अनीशाः ॥७१॥

अर्थ—हे विद्वानोंके देव—सर्व श्रेष्ठ ज्ञाता—सर्वज्ञ ! आप  
अन्य समस्त प्राणियोंके रक्तक और स्वामी हैं । आपने जिन नौ  
निधियोंको तुच्छ समझकर अनादरके साथ छोड़ दिया था वे  
निधियां आपको छोड़नेके लिये असमर्थ होकर मानों भयसे ही  
दूर दूर निवास कर रही हैं ।

भावार्थ—भगवान् शान्तिनाथ तीर्थंकर और कामदेवपदके  
सिवाय चक्रवर्ती पदके भी धारक थे—राज्य-अवस्थामें वे ६  
निधियों और १४ रत्नोंके स्वामी थे । जब वे संसारसे उदास  
होकर दीक्षा लेने लगे तब उन्होंने निधियों और रत्नोंको अत्यन्त  
तुच्छ समझकर अनादरके साथ छोड़ दिया था । तीर्थंकरके  
समवसरणमें जो गोपुर द्वार होते हैं उनके दोनों तरफ अष्ट  
मङ्गल द्रव्य और नौ निधियां रखी होती हैं । गोपुरद्वार भगवान्-  
के सिंहासनसे काफी दूर होते हैं इसलिये उनके पास रखी हुई  
निधियां भी भगवान्से दूर कहलाईं । यहां आचार्य समस्तमद्र  
अप्रेक्षा करते हैं कि भगवान्ने जिन निधियोंको अनादरके

साथ छोड़ दिया था वे ही निधियां अन्य रत्नक न देखकर तथा भगवान्‌को ही सबका (सबके साथ अपना भी) स्वामी समझकर मानों उन्हें नहीं छोड़ना चाहतीं परन्तु उनके द्वारा किये हुए अपमानको याद कर वे गोपुरके बाह्य द्वारपर ही सहम कर रुक गईं जान पड़ती थीं—वे भगवान्‌के दिव्य तेजसे मानों डर गई थीं, इसलिये उनसे दूर ही निवास कर रही थीं। जो पदार्थ जिसकी रक्षामें बहुत समय तक रहा हो और उसके द्वारा उसका काकी उपकार भी हुआ हो यदि वह आदमी वैराग्यभावसे स्नेह घटाने-के लिये उसे छोड़ देवे—उसको रक्षा करना स्वीकार न करे, किन्तु बाद में वही पुरुष किन्हीं अन्य पदार्थोंकी रक्षा करना स्वीकार करले और उनकी रक्षा करने भी लगे—तो पहले छोड़ा हुआ पदार्थ विचार करेगा कि 'इस आदमीका हृदय अभी रत्नकत्व-का भार लेनेसे विरक्त नहीं हुआ है। यदि सचमुचमें विरक्त हुआ होता तो मुझे छोड़ अन्य पदार्थोंकी रक्षा क्यों करने लगता।' इस तरह वह छोड़ा हुआ पदार्थ अपने रत्नकके हृदय-में अपने लिये गुंजाइश देखकर फिरसे उसके पास पहुँचता है परन्तु अपने साथ किये हुए उसके रूखे व्यवहारसे वह सहम जाता है। प्रकृतमें—शान्तिनाथस्वामीने दीक्षा कालमें उन नौ निधियोंको छोड़ा था जिनके बल बूतेपर उन्होंने अपना साम्राज्य षट्खण्ड भरतक्षेत्रमें विस्तृत किया था परन्तु इन्हें छोड़कर—इनकी रक्षा का भार त्यागकर—वे सर्वथा उस अनुराग-से रहित हो गये थे यह बात नहीं किन्तु अन्यकी—निधियोंसे अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंकी—रक्षा करने लगे थे (पक्षमें सब जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेशदेकर जन्ममरणके दुःखोंसे बचाने लगे थे)। रक्षा ही नहीं करने लगे थे किन्तु रक्षाकी सामर्थ्यसे सहित भी थे इन दोनों बातोंको आचार्यने 'परान् पातुः' और 'अधीशः' इन विशेषणोंसे निर्दिष्ट किया है। नौ निधियां सोचती हैं कि 'भगवान्-

का राग यदि वास्तवमें बड़ा होता तो ये हमारे समान किसी अन्यके भी रक्षक न होते परन्तु ये अन्य समस्त प्राणियोंकी रक्षा कर रहे हैं और उसमें समर्थ भी हैं—हमारे रहते हुए भी ये अपने वैराग्यभावको सुस्थिर रख सकते हैं, क्योंकि बाह्य पदार्थ ही तो वैराग्यभावको लोपनेवाले नहीं हैं। हमारे सिवाय छत्रत्रय, चमर, सिंहासन, भामण्डल आदि विभूतियां भी तो इनके पास हैं, इन सबके रहते हुए भी इनके वैराग्यभावका लोप क्यों नहीं होता ? इससे स्पष्ट मालूम होता है कि ये हर एक तरहसे अधीश हैं—अपने भावोंके नियन्त्रण करनेमें समर्थ हैं। फिर हमें क्यों छोड़ा ? इनके सिवाय दूसरा और रक्षक भी नहीं है। यदि हम पुनः इनकी शरणमें जायें तो हमें ये अपना लेंगे, क्यों कि अभी इनके हृदयसे अनुराग नष्ट नहीं हुआ है” बस यही सोचकर और अपने लिये गुंजाइश देखकर निधियां समवसरणमें उनके पास पहुँचना चाहती हैं परन्तु क्यों ही उन्हें पूर्वकृत अनादरका खयाल आजाता है—‘फिर भी वही हाल नही’ ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है—‘त्यों ही वे गोपुरद्वार पर ठहर जाती हैं। कितनी गम्भीर है उत्प्रेक्षा और कविकी सूक्त ? ( अभी इनका अनुराग नष्ट नहीं हुआ है इत्यादि उद्धरणोंसे भगवान्को सरागी मत समझलेना। क्योंकि उत्प्रेक्षाालंकारके कारण वैसी कल्पना करनी पड़ी है। उत्प्रेक्षा हमेशा कल्पित होती है—उसमें सत्यांश नहीं होता )। समवसरणमें निधियोंका सद्भाव अन्य शास्त्रोंसे भी स्पष्ट है। ॥७१॥

‘बाह्याभ्यन्तरदेशे यद्गिरिद्वगोपुराः सन्ति ।  
 द्वारोभयभागस्था मङ्गलनिधयः समस्तास्तु ॥२०॥  
 संघाटकभृङ्गात्पञ्चद्राक्षद-व्यजन-शक्ति-चामर-कणशाः ।  
 मङ्गलमष्टविधं स्यादेकैकस्याष्टशतसंख्या ॥२१॥

(पादादियमकरलोकः)

समस्तपतिभाषस्ते समस्तपति' तद्द्विषः<sup>१</sup> ।<sup>२</sup>संगतोद्दीन भावेन संगतो हि न भास्वतः ॥७२॥

समस्तेति—समस्तपतीति प्रथमपादे यद्वाक्यं तद्द्वितीयपादेपि पुनरुच्चारितं । संगतोद्दीनमेति तृतीयपादे यद्वाक्यं तच्चतुर्थपादेपि पुनरुच्चारितम् यतः ततः पादादियमकः ।

समस्तानां निरवशेषाणां पतिभागः स्वामित्वं समस्तपतिभागः विरचयतिस्वम् । ते तव । समः समानः । तपति सन्तोषयति । तद्द्विषः तस्य समस्तपतिभाषस्य द्विषः शत्रवः तद्द्विषः चान् सद्द्विषः तच्छत्रुः । हे संगतोद्दीन परिग्रहच्युत । भावेन स्वरूपेण । संगतः संश्लिष्टः । हि स्फुटम् । न प्रविषेधे । भास्वतः दिनकरस्य । समुदायरूपार्थः—हे संगतोद्दीन समस्तपतिभाषस्ते समोपि तथापि तपति तद्द्विषः यस्मात् ततः भास्वतो भावेन न संगतो हि स्फुटम् ॥७२॥

प्रत्येकं सादृशतेत्याः काल-महाकाल-पाण्डु-माण्ड्यशङ्काः ।

नैसर्ग-पद्म-पिङ्गल-नानारत्नाञ्च नवनिधयः ॥७३॥

ऋतुयोग्य-वस्तु-भाजन-धान्यायुध-तूर्य-हर्म्य-वस्त्राणि ।

आभरण-रत्ननिकरान् क्रमेण निधयः प्रयच्छन्ति ॥७३॥

विष्णुसेनविरचितसमवसरणस्तोत्र ।

१ तपति प्रकाशते, विवक्षया चातोदकर्मकत्वम् ।

२ तस्य द्विषः तद्द्विषोऽन्धकारादयः सन्तोषि शेषः । अथवा तस्य समस्तपतिभाषस्य द्विषः शत्रवो-रागादयोऽन्धकारादयरश्च तानिति द्वितीयान्तपाठपक्षे तपतेः सकर्मकत्वम् । ते भास्वतश्च समस्तपतिभागः समः सन् तद्द्विषस्तपति किन्तु स्वया निःशेषितास्ते, तस्य च सावशेषास्त इत्युपरितो योजनीयम् ।

३ 'संगतः-परिमहतः दीनो रहितस्तत्समुद्भौ ।' 'संगतः+अहीन-भावेन', 'संगतः दीनभावेन', 'संगतः+हि+हूनभावेन' इति बहवोऽर्थः ।

अर्थ—हे परिग्रहरहित भगवन् ! यद्यपि समस्तपतिभाव-  
सर्वस्वामित्व आपमें और सूर्यमें समानरूपसे प्रकाशमान है—  
जिस तरह आप समस्त जगतके स्वामी हैं उसी तरह सूर्य भी  
समस्त जगतका स्वामी है, फिर भी आप सूर्यके स्वरूपसे संगत  
नहीं हैं—सूर्य आपको बराबरी नहीं कर सकता । क्योंकि  
आपने अपनेकर्मशत्रुओंको सर्वथा नष्ट कर दिया है इस-  
लिये आप अहीनभावेन संगत—अकृष्टतासे सहित—हैं । परन्तु  
सूर्यके अन्धकार आदि शत्रु अब भी विद्यमान हैं—गुफा आदि  
तिरोहित स्थानों तथा रात्रिमें अब भी अन्धकार रहा आता है ।  
इसलिये वह 'हीनभावेन संगतः'—अनुत्कृष्टतासे संगत है । सूर्य  
ज्योतिष्क-देवोंमें सबसे उत्कृष्ट-इन्द्र नहीं किन्तु प्रवीन्द्र है,  
इसलिये आप समस्त पतिभावकी अपेक्षा 'इनभावेन संगतः'—  
सूर्यके समान होनेपर भी शत्रु, सद्भाव तथा हीनभावकी अपेक्षा  
उसके समान नहीं हैं ।

भावार्थ—कई लोग कहा करते हैं कि समवसरणमें विराज-  
मान जिनेन्द्रदेवकी प्रभा कोटिसूर्यके समान होती है परन्तु  
आचार्य समन्तभद्रको जनका वह कहना पसन्द नहीं आया  
इसलिये उन्होंने उक्त व्यतिरेकसे सूर्य और भगवान् शान्ति-  
नाथमें वैसादृश्य सिद्ध करनेका सफल प्रयत्न किया है ॥७२॥

( मुरजबन्धः )

नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगताः ।

श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्धया चावसम्भृताः ॥७३॥

तथेति — नयाः नैगमादयः । सखाः अहि-नकुलादयः । ऋतवः  
प्रातृद् प्रभृतयः । नयाश्च सखाश्च ऋतवश्च गव्यसत्त्वर्त्तवः एते सर्वे  
परस्परं विरुद्धाः । सर्वे समस्ताः । गवि पृथिव्याम् । न श्वसमेते किन्तु  
अन्ये चापि ये विरुद्धाः असंगताः परस्परवैरिणः । श्रियः आह्वय्यात् । ते

तव । तु अस्मर्थे । अयुवन् संगच्छन्ते स्म । शु मिश्रणे इत्यस्य धोः लङ्-  
न्तस्य रूपम् । सर्वे विश्वे । दिव्यर्था च विवि स्वर्गे भवा दिव्याः,  
दिव्या चासौ ऋद्धिश्च दिव्यर्द्धिः तय दिव्यर्था देवकृतव्यापारेणोत्पद्यते ।  
अवसंभृताः निष्पदिताः कृता इत्यर्थः । किमुक्तं भवति—हे शान्तिनाथ  
ते श्रियः तव माहात्म्यात् गवि पृथिव्या नयसत्त्वत्तैः सर्वे अन्ये चाप्य-  
संगताः एते सर्वे अस्मर्थे अयुवन् संगतीभूताः केचन पुनर्दिव्यर्था च  
अवसंभृताः संगतीकृताः एतदेव तव माहात्म्यम् नाम्यस्य ॥७३॥

अर्थ—हे प्रभो ! द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अथवा नैगमाधिक नय,  
नेवला सर्प आदि प्राणी और वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतुएँ ये सब  
तथा इनके सिवाय और भी जो पृथिवीपर परस्पर विरोधी पदार्थ  
हैं—परस्परमें कभी नहीं मिलते; वे सब आपके प्रभावसे—माहा-  
त्म्यसे—एक साथ संगत होगये थे—आपसके विरोधको भूल  
कर मिल गये थे । तथा कितने ही अन्य कार्य देवोंकी ऋद्धिसे  
निष्पन्न किये गये थे ।

भावार्थ—द्रव्यार्थिक नय जिस वस्तुको नित्य बतलाता है  
पर्यायार्थिक नय उसी वस्तु को अनित्य बतलाता है । व्यवहार नय  
जिन कार्योंको धर्म बतलाकर उपादेश कहता है निश्चय नय उन्हीं  
कार्योंको अधर्म—आस्रवका कारण—बतलाकर हेय कहता  
है; इस प्रकार नयोंमें परस्पर विरोध रहता है परन्तु नयोंका  
यह विरोध उन्हींके पास रहता है जो कि एकान्तवादी हैं—एक  
नयको ही सब कुछ मानते हैं । जिनेन्द्रदेव स्याद्वादनयके प्ररूपक  
हैं वे विजृम्भासे सब नयोंको मानते हैं इसलिये उनके सामने नयों-  
का विरोध दूर हो जाता है और वे मित्रकी तरह परस्परमें  
सापेक्ष रहकर संसारके कल्याणकारक पदार्थ होजाते हैं ।<sup>१</sup>

१ नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रातिपक्षिद्वेः ।

न तद्विरुद्धं बहिरन्तरकनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥”

सर्प-नेत्रला, मुषक-मार्जार, गो-व्याघ्र आदि ऐसे जानवर हैं जिनका जन्मसे ही परस्पर वैर होता है वे आपसमें कभी नहीं मिलते। यदि कदाचित् मिलते भी हैं तो उनमें जो निर्बल होता है वह सबलके द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। परन्तु जिनेन्द्र देवका यह अतिशय होता है कि उनके पास रहनेवाले जन्तु परस्परका वैर भूल जाते हैं—वास्तवमें उनका शरीर इतना सौम्य शान्तिमय और आकर्षक होजाता है कि उनके पास विचरने वाले प्राणी आपसके वैरको छोड़कर परस्परमें प्रेम और प्रीतिसे विह्वल होजाते हैं इसलिये आचार्यने ठीक ही लिखा है कि आपके सामने परस्परके विरोधी जीव भी मिल जाते हैं।<sup>१</sup>

एक वर्षमें असन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं। इनका समय क्रमसे चैत्र वैशाख, ज्येष्ठ आषाढ, भाद्रपद, आश्विन कार्तिक, मार्गशीर्ष पौष और माघ फाल्गुन, इसतरह दो-दो मासका निश्चित है। वर्षमें मास परिवर्तन क्रमशः होता है अतः ऋतुओंका परिवर्तन भी क्रमशः होता है। एक साथ न मिलनेके कारण ऋतुओंमें परस्पर विरोध कहलाता है; परन्तु जिनेन्द्रदेव जहाँ विराजमान होते हैं वहाँ छहों ऋतुएँ एक साथ प्रकट हो जाती हैं—छहों ऋतुओंकी शोभा दृष्टिगत होने लगती है। इसलिये आचार्यने जो कहा

‘य एव निरञ्जयिकादयो नया मिधोनपेक्षाः स्वपरप्रयाशिनः ।

■ एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥’

—स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्राचार्यः ।

- १ सारङ्गो सिंहशापं स्पृशति सुतक्षिणा नन्दिनी व्याघ्रपोतं  
मार्जारो हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गोश्च ।  
वैराग्यजन्मजातान्यपि गच्छन्मदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति  
श्रित्वा साम्यै वरुदं प्रशमितकुहूषं योरिनं क्षीय मोहम् ॥



है कि परस्पर विरोधी श्रुतुएँ आपके माहात्म्यसे एक स्थानमें एक साथ प्रकट हो जाती हैं वह उचित ही है ।

इनके सिवाय कुछ और अतिशय-चमत्कार भी जिनभक्त देवताओंके द्वारा प्रकट किये जाते हैं जो ये हैं—अर्धमागधी भाषा, दिशाओंका निर्मल होना, आकाशका निर्मल होना, चलते समय भगवान्‌के चरणकमलोंके नीचे सुवर्ण-कमलोंकी रचना होना, आकाशमें जय-जय ध्वनि होना, मन्द-सुगन्धितपवनका चलना, सुगन्धमय जलकी वृष्टि होना, पृथिवीका कंटक-रहित होना, समस्त जीवोंका आनन्दमय होना, भगवान्‌के आगे धर्म-चक्रका चलना और छत्र चमर आदि मंगल द्रव्योंका साथ रहना ।

श्लोकमें जो 'च' शब्द है उसको अवधारणार्थक माननेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि ऐसा माहात्म्य आपका ही है अतः सर्वतो महात् आप ही—आप जैसे ही—हैं अन्य नहीं ॥७३॥

( मुरजबन्धः )

तावदास्थ त्वमारूढो भूरिभूतिपरंपरः ।

केवलं स्वयमारूढो हरिर्भाति निरम्बरः ॥७४॥

तावदिति—तावत् तदः तत्त्वं तस्य कृतास्त्वस्य रूपम् । आस्व तिष्ठ । आस उपवेशने इत्यस्य भोर्लोङ्‌स्तस्य प्रयोगः । तवदास्वेति किमुक्तं भवति तिष्ठतावत् । त्वं युष्मदो रूपम् । आरूढः प्रख्यातः । भूरि-भूतिपरंपरः भूरयश्च ता भूतयश्च भूरिभूतयः तासां परंपरा यस्यासौ भूरि-भूतिपरंपरः बहुविभूतिनिवास इत्यर्थः । केवलं किन्तु इत्यर्थः । स्वयमा-रूढः स्वेनाभ्यासितः । हरिः सिंहः । भाति शोभते । निरम्बरः वस्त्ररहितः । किमुक्तं भवति—हे भट्टारक त्वं तवदास्थ भूरिभूतिपरंपरः निरम्बर इति कृत्वा यस्त्वारूढः ख्यातः सः किन्तु त्वमारूढः हरिरपि भाति त्वं पुनः शोभते किमत्र चित्रम् ॥७४॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अन्तरङ्ग विभूति तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग विभूतिसे विभूषित हैं, साथमें निरम्बर भी हैं—वस्त्रशून्य हैं अर्थात् इतने निर्धन हैं कि आपके पास एक वस्त्र भी नहीं है। अतः आपको सुशोभित कहनेमें कुछ आश्चर्यसा मालूम होता है; परन्तु यह निश्चित है कि आप जिस प्रसिद्ध सिंहासनपर आरूढ़—विराजमान—होते हैं वह अत्यन्त सुशोभित होने लगता है—सिंहासनकी शोभा आपके विराजमान होनेसे बढ़ती है अतः आपके सुशोभित होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है।

भावार्थ—‘वह आदमी इतना निर्धन है कि उसके पास पहिनेको एक कपड़ा भी नहीं है’ इन शब्दोंसे लोकमें निर्धनताकी सोमाका वर्णन किया जाता है। भगवान् शान्तिनाथके शरीर पर भी एक कपड़ा नहीं था इसलिये लौकिक दृष्टिसे उन्हें सम्पन्न कैसे कहा जावे ? परन्तु वे अनन्तचतुष्टयरूप सच्ची सम्पदा तथा प्रातिहार्यरूप वेवरचित विभूतिसे विभूषित थे अतः उनको असम्पन्न भी कैसे कहा जावे ? इन दोनों विरुद्ध बातोंके रहते हुए भगवान् शान्तिनाथको सम्पन्न अथवा असम्पन्नका निर्णय देनेमें आचार्यको पहले कुछ अड़चनका सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उनकी दृष्टि सिंहासनपर पड़ती है और वे सोचते हैं कि यह सिंहासन सुवर्ण-निर्मित तथा रत्नजड़ित होनेपर भी अब भगवान्से रहित होता है तब इसकी सूर्यरहित उदयाचलकी तरह प्रायः कुछ भी शोभा नहीं होती। और सिंहासन जब भगवान्से अधिष्ठित होता है तब इसकी शोभा ठीक उसी तरह बढ़ जाती है जिस तरह कि शिखरपर अरण्य दिनकर—ब्रह्मसूर्यके आरूढ़ होनेपर उदयाचलकी बढ़

जाती है। इससे मालूम होता है कि यदि भगवान् स्वयं सम्पन्न या सुशोभित न होते तो उनके आश्रयसे सिंहासन सम्पन्न या सुशोभित कैसे होता ? तब इस प्रकार सोचनेसे तर्क प्रधान आचार्यको निर्णय हो जाता है कि वास्तवमें भगवान् शान्तिनाथ अत्यन्त शोभायमान अथवा सम्पन्न पुरुष हैं। यह सिंहासन-प्रतिहार्यका वर्णन है ॥७४॥

( मुरजबन्धः )

नागसे त इनाजेय कामोद्यन्महिमार्हिने ।

जगत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

नागेति—नागसे<sup>१</sup> अधिष्ठमानापरान्नाथ । नञ् प्रतिकूलकोयमभ्यो नकारस्ततो नञो निस्त्वमनादेशो न भवति । ते तुभ्यम् । हे स्वामिन् । अजेय सज्जय । उद्यती चासौ महिमा च उद्यन्महिमा कामस्य स्मरस्य उद्यन्महिमा तामर्हति हिंसयतीत्येवंशीलः कामोद्यन्महिमार्हि तस्मै कामोद्यन्महिमार्हिने रागोद्वेकमाहात्म्यदिशिने । जगत्त्रितयनाथाय जगतां त्रितयं जगत्त्रितयस्य नाथः स्वामी जगत्त्रितयनाथः तस्मै जगत्त्रितयनाथाय त्रिभुवनाधिपतये नमः किं संज्ञकोऽयं शब्दः पूजावचनः । जन्मप्रमाथिने जन्म संसारः तत् प्रमथ्नाति विनाशयतीति जन्मप्रमाथी तस्मै जन्मप्रमाथिने जन्मविनाशिने । समुदायार्थः—हे शान्तिनाथ हन अजेय ते तुभ्यं नमः कथंभूताय तुभ्यं नागसे कामोद्यन्महिमार्हिने जगत्त्रितयनाथाय जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! हे अजेय ! आप अपराध-रहित हैं—निष्पाप हैं, कामकी बढ़ती हुई महिमाको नष्ट करनेवाले हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं और जन्ममरणरूप संसारको नष्ट करने वाले हैं, अतः हे शान्तिनाथ भगवन् ! आपको नमस्कार हो ॥७५॥

१ आगः पापं, न विद्यते आगः यास्यासी नृपतः तस्मै नागसे ।

( मुरजबन्धः श्लोकयमकालंकारश्च )

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।

योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७६॥

रोगेति—श्लोकद्वितयम् । अयमेव श्लोको द्विवारः पठनीयो द्वेधा  
प्याश्चेयश्चेति कृत्वा श्लोकयमक इति भावः ।

रोगाः उपाधयः पाताः पातकानि कुरिस्ताचरस्वामि, रोगश्च पातश्च  
रोगपाताः तान् विनाशयतीति रोगपातविनाशः । तस्मै रोगपातविनाशाय ।  
बहुलवचनात् कर्त्तरि अङ् धनू धा । तमः अज्ञानं तत् नुदतीति तमो-  
नुन् अज्ञानहन्तेत्यर्थः । महिमानं माहात्म्यं पूजां अयते गच्छत्येवंशीलः  
'शीलार्थे णिन्' महिमायी । तमोनुष्वासौ महिमायी च तमोनुन्महिमायो  
तस्मै तमोनुन्महिमायिने । योगेन ध्यानेन शुभानुष्ठानेन ख्याताः प्रख्याताः  
योगख्याता योगख्यातारश्च ते जनारश्च योगख्यातजनाः योगख्यातजनानां  
अर्चा पूजा सत्कारः यस्यासौ योगख्यातजनार्चाः गच्छरादिपुण्य इत्यर्थः ।  
अथवा योगख्यातजनैरर्थः इति योगख्यातजनार्थः तस्मै योगख्यातज-  
नार्चाय । श्रमः श्वेदः तं उच्छिन्नन्ति विदारयतीति श्रमोच्छिन् । मन्दिमा  
मृदुत्वं सर्वदयास्वरूपं तस्मिन् आस्ते इति मन्दिमासी । श्रमोच्छिन्नासौ  
मन्दिमासो च श्रमोच्छिन्मन्दिमासो तस्मै श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने । इन् ते  
नमः इत्येतदनुवर्तते । तैः पुण्यमिसम्बन्धः कर्त्तव्यः—हे शान्तिमहा-  
रक इन् स्वामिन् ते पुण्यं नमोस्तु किं विशिष्टाय पुण्यं रोगपातविनाशाय  
पुनरपि किं विशिष्टाय तमोनुन्महिमायिने पुनः योगख्यातजनार्चाय श्रमो-  
च्छिन्मन्दिमासिने ॥७६॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप अनेकरोग तथा पापोंको नाश करने  
वाले हैं । आपने अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है ।  
आपकी बड़ी महिमा है । योगियोंमें प्रसिद्ध गणधरादि देव  
आपकी पूजा करते हैं । आप खेद श्वेद आदि दोषोंको नष्ट करने

वाले हैं तथा अत्यन्त मृदुताको प्राप्त हैं—दयालु हैं—अतः आपको नमस्कार हो ॥७६॥

(सुरजबन्धः रत्नोक्तयमकालंकारश्च)

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।

योगख्यातजनार्चायः श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने ॥७७॥

रोगपेति—रोगः भंगः परिभवः तं पातयति घातयतीति 'कर्म-  
शयय' रोगपातः । वि विनष्टः ध्वस्तः नाशः संसारपर्यायो यस्य देवविशे-  
षस्यासौ विनाशः । रोगपातरक्षासौ विनाशश्च रोगपातविनाशः तस्मै  
रोगपातविनाशाय । तमः तिमिरं अलोकाकारं वा, कुतः—'अपोहः  
शब्दलिङ्गाभ्यां यतः' तमःशब्देन किमुच्यते आलोकाभावः कस्मिन्  
अत आह अलोकाकारी, ततस्तमःशब्देन अलोकाकारस्य ग्रहणम् ।  
तुत् प्रेरणं अथवा चतुर्गतिनिमित्तं यत्कर्म तत् तुत् इत्युच्यते तादृ-  
ध्मात्तात्पर्यं भवति । महिः पृथिवीलोकः जीवादिद्रव्याणि इत्यर्थः  
इकारान्तोऽपि महिशब्दो विद्यते । तमश्च तुत्श्च महिश्च तमोनुन्महयः  
ताः मिनाति परिच्छिन्नतीति तमोनुन्महिमायी तस्मै तमोनुन्महिमायिने ।  
यः यदः वान्तस्य रूपम् । अगः पर्वतः ख्यातः प्रख्यातः प्रधानः, अगच्छासौ  
कपातश्च अगख्यातः मन्दर इत्यर्थः । जनानां हृद्गादीनां अर्चा पूजा  
जनार्चा, अगख्याते जनार्चा अगख्यातजनार्चा, तां अयते गच्छतीति  
अगख्यातजनार्चायः । अमः क्लेशः उच्छिन्न उच्छेदः विनाशः । मन्दिमा  
जात्यं मूर्खत्वम्, धर्मश्च उच्छिन्न मन्दिमा च श्रमोच्छिन्नमन्दिमानः तान्  
अस्यति क्षिपतीति श्रमोच्छिन्नमन्दिमासो तस्मै श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने ।  
किमुक्तं भवति—अगख्यातजनार्चायः यः सः त्वं हे शान्तिमहारक अत-  
स्तुभ्यं नमोस्तु । किं विशिष्टाय तुभ्यं रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने  
श्रमोच्छिन्नमन्दिमासिने ॥ ७७ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप पराभक्तको नष्ट करने वाले हैं—

१ महिः सर्वसत्ता मही इति वैश्वम्भी ।

आपका कोई पराभव नहीं कर सकता अथवा आपने आत्माका पराभव करनेवाले कर्मसमूहको नष्ट कर दिया है। आप नाशसे (मृत्युसे) रहित हैं, अलोकाकाश, चतुर्गतिभ्रमणके कारण कर्म-पुञ्ज, तथा षड्रव्यात्मक पृथिवीलोकको जाननेवाले हैं; इन्द्रादि-देवों द्वारा प्रसिद्ध मेरुपर्यन्तपर की हुई पूजाको प्राप्त हैं औरक्लेश, विनाश तथा जड़ताको नष्ट करने वाले हैं, अतः आपको नम-स्कार हो ॥ ७७ ॥

(मुरजवम्भः)

प्रयत्येमान् स्तवान् वरिम<sup>१</sup> प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये ।

नयप्रमाणवाग्रिमिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥ ७८ ॥

प्रयत्येति—प्रयस्य प्रयस्य प्रकृत्य । इमान् एतान् । स्तवान् स्तुतोः । वरिम वरिम । कृशा तन्वी न कृशा अकृशा महती । अस्तिः पीडा अकृशा चासी अस्तिश्च अकृशार्त्तिः । श्रान्ताः दुःखिताः । श्रान्तानां अकृशार्त्तिः श्रान्ताकृशार्त्तिः । प्रास्ता ध्वस्ता श्रान्ताकृशार्त्ति-येनासौ प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तिः तस्मै प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये । नयारश्च प्रमाणे च नयप्रमाणानि नयप्रमाणानां वाचः वचनानि नयप्रमाणवाचः । नयप्रमाणवाच एव हरमयो गभस्तयः नयप्रमाणवाग्रमयः तैर्ध्वस्तं निरा-कृतं ध्वान्तं येनासौ नयप्रमाणवाग्रिमिध्वस्तध्वान्तः तस्मै नयप्रमाणवाग्र-िमिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये षोडशतीर्थं<sup>१</sup> कराद्य । किमुक्तं भवति—शान्तये इमान् स्तवान् प्रयस्य वच्यहम् । किं विशिष्टाय शान्तये प्रास्तश्रान्ताकृ-शार्त्तये नयप्रमाणवाग्रिमिध्वस्तध्वान्तायेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अर्थ—मैं प्रयत्नपूर्वक अनेक स्तोत्रोंको रचकर उन शान्ति-नाथ भगवान्से प्रार्थना करता हूँ—कुछ कहना चाहता हूँ, जो कि दुःखी मनुष्योंकी बड़ी बड़ी पीड़ाओंको नष्ट करने वाले हैं ।

१ 'वरा कान्तौ' कान्तिरिच्छा ।

तथा जिन्होंने नय और प्रमाणोंके वचनरूप किरणोंसे लोगों-  
के अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कर दिया है ॥ ७८ ॥

( सर्वपावनध्ययमकः )

स्वसमान समानन्या भासमान स मानघ ।

ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥ ७९ ॥

स्वसेति—सर्वेषु पादेषु समानशब्दः पुनः पुनश्चारितो पठः ।  
स्वेन आत्मना समानः सदृशः स्वसमानः नान्येनोपम इत्यर्थः तस्य  
सम्बोधनं स्वसमान । समानन्याः क्रियापदम्, सं आह् पूर्वस्य दुर्नदिस-  
शुद्धावित्यस्य धोः लङन्तस्य रूपम् । भासमान शोभमान सः इति तदः  
कृताव्यस्य रूपम् । मा अश्मत् इवम्भूत्य प्रयोगः । अनघ न विद्यते  
अर्धं पापं यस्यासावनघः तस्य सम्बोधनं हे अनघ धातिचतुष्टयरहितः ।  
ध्वंसमानेन नश्यता समः समानः ध्वंसमानसमः नश्यत्समान इत्यर्थः ।  
अनस्तः अविनष्टः आसः उद्देशः अर्थं यस्य तदनस्तत्रासं, मनः पृष्ठ  
मानसं स्वाधिकः अण्, अनस्तत्रासं मानसं यस्यासावनस्तत्रासमानसः ।  
ध्वंसमानसमश्चासौ अनस्तत्रासमानसश्च ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसः  
तं ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसम् । आनसं प्रणेतम् । समुदायार्थः—हे  
शान्तिभट्टारक स्वसमान भासमान अनघ परमार्थत्वेन ख्यातो यस्त्वं स  
मा समानन्याः किं विशिष्टं मा ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं आनसं  
महद्भक्त्या प्रणेतम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—हे स्वसमान-अपने ही समान आप अर्थात् उपमासे  
रहित ! हे शोभमान ! हे निष्पाप ! शान्तिनाथ भगवन् ! आप  
जुझे समृद्धिसम्पन्न—ज्ञानदर्शनादिरूप आत्मसम्पत्तिसे पूर्णयुक्त  
कीजिये । मैं आपके चरणोंमें आनत हूँ—मन-वचन-कायसे नम-  
स्कार करता हूँ । मेरा मानसिक उद्देश यद्यपि नष्ट नहीं हुआ

१ 'मा-अनघ' इतिच्छेदः मा मामित्यर्थः ।

तथाऽपि नष्टमानके समान हो रहा है—अतः मुझे अपने ही समान समृद्ध कीजिये ।

भावाय—यहाँ 'अनन्ययालङ्कार' से भगवान् शक्तिनाथके लिये 'स्वसमान' सम्बुद्धि विशेषण दिया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हे भगवन् ! आप अपने ही समान हैं—अनूपम हैं—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा आपको दी जा सके । दूसरोंको समृद्ध-सम्मान करनेमें आप अपना सानी (जोड़) नहीं रखते इसी लिये मैं आपके पास आया हूँ । इसके सिवाय आप भासमान हैं—शोभायमान हैं—अपने कार्यमें समर्थ हैं तथा हर एक तरहसे निष्पाप हैं—द्वेष आदिसे रहित हैं । मेरे प्रति आपका कोई द्वेष नहीं है किन्तु निष्पाप होनेके कारण मेरे ऊपर आपके हृदयमें दयालुताका उत्पन्न होना ही स्वाभाविक है । मेरा चित्त संसारके दुःखोंसे उद्विग्न है । यद्यपि मेरे चित्तका प्राप्ति अभी ध्वस्त नहीं हुआ फिर भी ध्वंसमान-के समान हो रहा है, अतः उसके पूर्णतः ध्वस्त होनेमें सहायक हूजिये और इस तरह मुझ भक्तकी जो पूर्ण ज्ञानदर्शनाविरूप आत्मीय सम्पत्ति है उसे कृपया शीघ्र प्राप्त कराइये ॥७६॥

(सुरग्रथन्धः)

सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम् ।

प्रोदतुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मरुतमक्षयताम् ॥ ८० ॥

सिद्ध इति—सिद्धः निर्दिष्टः कृतकृत्यः । त्वं भवान् । इह कस्मिन् । संस्थानं समानस्थानं सिद्धयोग्यस्थानं सिद्धमित्यर्थः । शोकाग्रं शिखोक्तमस्तकम् । अगमः गतः गमैर्नेकान्तस्य रूपम् । सतां पण्डितानां भव्यलोकानाम् । प्रोदतुमिव उत्तारितुमिव । सन्तानं समृद्धम् । शोक एव अन्धिः समुद्रः । शोकाब्धिः दुःखसमुद्र इत्यर्थः । तस्मिन् शोकाब्धौ । मरुतः प्रविष्टः प्रवेष्टवन्तः प्रवेष्टवन्तः भगवन्तः



मन्थन्तश्च मग्नमन्थयन्तः तेषां मग्नमन्थयताम् प्राप्तशोकानामित्यर्थः ।  
 समुदायार्थः—हे शान्तिनाथ यः इह सिद्धः त्वं संस्थानं लोकाग्रं अगमः  
 सती मग्नमन्थयतां सन्तानं प्रोक्षतुमिष । किमुक्तं भवति—भट्टारकस्य  
 सिद्धिगमनं सकारणमेव परार्थे हि सती प्रयत्नः ॥ ८८ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आप इस लोकमें सिद्ध—  
 कृतकृत्य—हो चुके थे तथापि आप लोकके अग्रभागरूप उत्तम  
 स्थानपर—सिद्धशिलापर—जा विराजमान हुए अतः आपका यह  
 बड़ा जाना ऐसा मालूम होता है मानों दुःखरूप समुद्रमें डूबे हुए  
 अथवा आगे डूबनेवाले भन्य जीवोंके समूहको उससे उद्भूत  
 करनेके लिये ही हो ।

भावार्थ—जैन शास्त्रोंमें किसी स्थानविशेषको मोक्ष नहीं माना  
 है किन्तु आत्माकी सर्वकर्मरहित शुद्ध अवस्थाको ही मोक्ष माना  
 है । जब आत्मासे सब कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है तब  
 आत्मा एक समय मात्रमें त्रिलोकके ऊपर सिद्ध शिलापर पहुँच  
 जाता है । आत्माही इस अवस्थाको ही सिद्ध, मुक्त अथवा  
 कृतकृत्य अवस्था कहते हैं । भगवान् शान्तिनाथ भी कर्मोंका  
 क्षय होजानेसे इस मध्यम लोकमें ही सिद्ध होचुके थे फिर भी वे  
 तथागति स्वभाव होनेसे त्रिलोकके ऊपर जाकर विराजमान  
 हुए थे । यहाँ आचार्य समन्तभद्र उत्प्रेक्षाालंकारसे वर्णन करते  
 हैं कि भगवान् शान्तिनाथका तीन लोकके अग्रभागरूप उच्च  
 स्थानपर जो विराजमान होना है वह मानों दुःखरूपी समुद्रमें  
 डूबे हुए अथवा डूबनेवाले जीवोंके उद्धार करनेके लिये ही है ॥  
 यह बात अब भी देखी जाती है कि कूप या तालाब वगैरहके  
 ऊपर तट पर बैठा हुआ पुरुष ही उनमें पड़े हुए जीवोंको रस्सी  
 वगैरह से निकालनेमें समर्थ होता है । स्वयं नीचे स्थानमें  
 रहकर दूसरोंको नदी तालाब कुआ आदिसे नहीं निकाला जा  
 सकता । श्लोकका सारांश यह है कि—भगवान् शान्तिनाथको

मुक्त हुआ देखकर अन्य जीव भी अपने आपको मुक्त करनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ८० ॥

### कुन्धु-जिन-स्तुतिः

( सर्वपादान्तयमकः )

कुन्धवे सुमृजाय ते नम्रयूनरुजायते ।

ना महीष्वनिजायते सिद्धये दिवि जायते ॥८१॥

कुन्धवे इति—सर्वपादान्तेषु जायते इति पुनः पुनरावर्तितं यतः । कुन्धवे कुन्धुन्मट्टारकाय सप्तदशतीर्थकराय । सुमृजाय सुशुद्धाय । ते तुभ्यम् । नम्रः नमनशीलः विसर्जनीयस्य यत्त्वम्, ऊना दिनष्टा रुजा व्याघ्रिर्वस्य स ऊनरुजः ऊनरुज इव आत्मानमाचरतीति ऊनरुजायते । ना पुरुषः । महीषु पृथिवीषु । हे अनिज निश्चयेन जायते इति निजः न निजः अनिजः तस्य सम्बोधनं हे अनिज । जयते उत्पद्यते । सिद्धये मोक्षाय गत्यर्थांगमम् । दिवि स्वर्गे । जायते उत्पद्यते । एषु ग्रहस्थे शब्दे इत्यस्य धोः प्रयोगे विकल्पेनापि प्रभवति । नक्तव्येन समुदायार्थः—हे अनिज ते तुभ्यं कुन्धवे सुमृजाय नम्रः ना पुरुषः इह लोकेषु ऊनरुजायते जयते सिद्धये दिवि स्वर्गे जायते ॥८१॥

अर्थ—हे अनिज ! हे जन्म-मरणरहित कुन्धुनाथ जिनेन्द्र ! आप अत्यन्त शुद्ध हैं । जो पुरुष आपको नमस्कार करता है यह पृथिवी-लोकमें सब तरहके रोगोंसे रहित होता है और परलोकमें मुक्तिसे प्राप्त करता अथवा स्वर्गमें उत्पन्न होता है ॥८१॥

( भुरजबन्धः )

यो लोके त्वा नतः सोतिहीनोप्यतिगुरुर्वतः ।

बालोपि स्या श्रितं नीति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥

यो लोके इति—यः कश्चिद् । लोके सुवने । स्वा युष्मद् इव-  
न्तस्य रूपम् । नतः प्रवृत्तः । सः तद् भान्तस्य रूपम् । अतिहीनोपि  
अतिनिकृष्टोपि । अतिगुरुः महाप्रभुः भवति इत्यध्याहार्यम् । यतः  
यस्मात् । बाह्योपि अज्ञान्यपि मूर्खोपि । स्वा कुन्धुभट्टारकं । श्रितं श्रेष्ठं  
आश्रययोग्यम् । नोति स्तौति । को नो को न । नीतिपुरुः नीत्या बुद्ध्या  
पुरुः महान् । कुतः कस्माद् । संक्षेपार्थः—हे कुन्धुभट्टारक त्याजितमिह  
लोके योतिहीनोपि नतः सोतिगुरुर्यतः ततः बाह्योपि स्वा को न नोति  
नोतिपुरुः पुनः कुतो न नोति किन्तु नोत्येव ॥५२॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप सब जीवोंको आश्रय देनेमें समर्थ  
हैं । इस लोकमें जो पुरुष आपको नमस्कार करता है—सब  
प्रकारसे आपका आश्रय ले लेता है—वह अत्यन्त हीन—निकृष्ट  
अथवा नीच—होनेपर भी अतिगुरु अतीव श्रेष्ठ अथवा उच्च—  
हो जाता है । जब यह बात है तब हे प्रभो ! ऐसा कौन मूर्ख  
अथवा नीतिज्ञ ( बुद्धिमान् ) मनुष्य होगा जो आपको नमस्कार  
कर आपके आश्रय अथवा शरणमें आना न चाहेगा ? शायद  
कोई भी ऐसा नहीं हो सकता ओ आपका यथार्थ परिचय पाकर  
भी आपकी शरणमें न आवे ।

भावार्थ—जिस कार्यका लाभ प्रत्यक्ष दीखता हो बुद्धिमान्  
मनुष्य उसे अंधश्य ही करते हैं । यहां 'जो अतिहीन अथवा  
अतिनीच है वह अति महान् अथवा अत्यन्त उच्च कैसे हो  
सकता है ?' इस तरह विरोध प्रकट होता है । परन्तु महापुरुषों  
के आश्रयसे विरुद्ध दिखाई देनेवाली बात भी अनुकूल होजाती  
है अतः उस विरोधका परिहार हो जाता है । यह विरोधाभास  
अलंकार है ॥५२॥

( गतप्रत्यागताख्य भागः )

नतयात विदामोश शमी दावितयातन ।

रजसामन्त सन्देव वन्देसन्तमसाज १ ॥८३॥

नतेति—गतप्रत्यागताख्य हर्यर्च्यः । नतैः प्रकृतैः यातः गम्यः नत-  
यातः तस्य सम्बोधनं हे नतयात । विद्वां ज्ञानिनां ईश स्वामिन् । शमी  
अपशाम्भः । दावितं उपतापितं यातनं दुःखं येमासौ दावितयातनः तस्य  
सम्बोधनं हे दावितयातन । रजसां पापानां अन्त विनाशक । सन् भवन् ।  
देव परमात्मन् । स्वामहमित्यध्याहार्यः सामर्थ्यलब्धो धा । वन्दे स्तौमि ।  
न विद्यते सन्तमसं अज्ञानं यस्यासौ असन्तमसः तस्य सम्बोधनं हे असन्त-  
मस । अजर जातिजरामृतिरहित । किमुक्तं भवति—हे कुधुस्वामिन् नत-  
यात विदामोश दावितयातन रजसामन्त देव असन्तमस अजर शमी  
शान्तः सन् स्वां वन्देऽहमिति सम्बन्धः ॥८३॥

अर्थ—हे नम्र मनुष्योंके द्वारा प्राप्य—ज्ञातव्य ! हे ज्ञानियों-  
के स्वामी—केवलज्ञानी ! हे दुःखोंके दूर करनेवाले—अनन्तसुख  
सम्पन्न ! हे पापोंके विनाशक ! हे अज्ञानशून्य ! हे अजररहित  
कुन्धुनाथजिनेन्द्र ! मैं असन्त शान्त होता हुआ आपको वन्दना  
करता हूँ—कषायोंको शान्त करता हुआ आपके आगे नतमस्तक  
होता हूँ ॥८३॥

( बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्यमकाऽलाकुल्यञ्जनाऽनर्कश्चर-

गुहद्वितीयपाद सर्वतोभद्र-गतप्रत्यागताऽर्धमः २ )

पारावाररवारपारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।

वामानामभनामावारक्ष मर्द्धर्मक्षर ॥८४॥

१ 'वन्दे + असन्तमस + अजर' इति सन्धिः ।

२ इसश्लोके 'अम' 'अव', 'रख' इन अनेक क्रियाओंके होनेसे 'बहु-  
क्रियापद', द्वितीयपादमें 'क्षमाव-क्षमाक्ष' की आकृतिहोनेसे 'द्वितीय-

परेति—बहुक्रियापदद्वितीयपादमध्यमकातालुव्यञ्जनाभ्यस्वरगूढ-  
द्वितीयपादसर्वतोभद्रः । बहुक्रियापदानि—अम अय आरञ् । द्वितीय  
पादे समाच्च इति मध्ये मध्ये आवर्तितम् । सर्वाणि अतालुव्यञ्जनानि ।  
अवर्णस्वराः सर्वेऽपि नान्यः स्वरः । द्वितीयपादे आन्वयकाराणि आन्वयेषु  
त्रिषु पादेषु सन्ति यतः ततो गूढद्वितीयपादः । सर्वैः प्रकारैः पाठः समान  
इति सर्वतोभद्रः ।

पारावारस्य समुद्रस्य रघो ध्वनिः पारावाररवः पारावाररवं इत्यसिं  
गच्छतीति पारावाररवारः तस्य सम्बोधनं पारावाररवार समुद्रध्वनिसदृश-  
वाणीक । न विद्यते पारं अवसानं यस्याः सा अपारा अकथ्यपर्यन्ता ।  
सर्वां पृथिवीं अचक्षोति व्याप्नोतीति समाच्चः ज्ञानव्याप्तसर्वमेवः तस्य  
सम्बोधनं हे समाच्च । तुमा सद्विष्णुता सामर्थ्यं वा । अचरा अविनरवरा ।  
धामानां पापानाम् । अमनं स्रनक । अम प्रीणय । अय शोभस्व । आरञ्  
पाकय । मा अक्षमदः इवस्तस्य रूपम् । हे कञ्च वृद्ध । कञ्च वृद्धम् ।  
न चरतीत्यचरः तस्य सम्बोधनं हे अचर । समुदाचार्यः—हे कुन्धु-  
नाय, पारावाररवार, समाच्च, धामानाममन, कञ्च, अचर, ते समा  
अचरा अपारा यतः ततः मा कञ्च अम अय आरञ् । अतिमाक्षिकस्य  
चचनमेतत् ॥८४॥

अर्थ—हे प्रभो ! अपक्वी दिव्यध्वनि समुद्रकी गर्जनाके  
समान अत्यन्त गम्भीर है । आप समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं ।

पादमध्यमकं, तालुस्थानीय—इवर्षं चवर्गं य श अक्षरोंके न  
होनेसे 'अतालुव्यञ्जन', केवल अवर्णस्वरके होनेसे 'अवर्णस्वर',  
प्रथम तृतीय और चतुर्थपादमें द्वितीय पादके गुप्त होनेसे 'गूढद्वितीय-  
पाद,' सब ओरसे एक समान पढ़ेजानेके कारण 'सर्वतोभद्र,' कम और  
विपरीत कमसे पढ़े जायेके कारण 'शतप्रत्यागत' और अर्धअमरूप  
होनेसे 'अर्धअम'—इस प्रकार आठ तरहका धिवास्वकार है ।

पापोंके नाश करनेवाले हैं। ज्ञानादिगुणोंसे वृद्ध हैं। क्षय-रहित हैं। हे भगवन् ! आपकी क्षमा अपार और अविनाशी है। इसलिये आप मुझ वृद्धको भी प्रसन्न कीजिये, सुशोभित कीजिये तथा पालित कीजिये।

भावार्थ—यहां आचार्यने भगवान् कुंथुनाथसे तीन बातोंकी प्रार्थना की है कि आप मुझ वृद्धको प्रसन्न कीजिये—सुशोभित कीजिये और पालित कीजिये। उक्त तीन बातोंको पूर्ण करनेकी सामर्थ्य बतलानेके लिये उन्होंने उसके अनुकूल ही विशेषण दिये हैं। यथा हे भगवन् ! आपकी दिव्यध्वनि समुद्रकी ध्वनिके समान अत्यन्त सारगर्भित होती थी, जिसे सुनकर समस्त प्राणी आनन्द लाभ करते थे अतः आप मुझे भी अपनी दिव्यध्वनिसे प्रसन्न कीजिये। हे भगवान् आप सब पदार्थोंको जाननेवाले हैं—आपकी आत्मा ज्ञानगुणसे अत्यन्त सुशोभित है अतः आप मुझे भी सुशोभित कीजिये—ज्ञानगुणसे अलंकृत कीजिये। हे भगवन् ! आप यामों-दुष्टों अथवा पापोंको उखाड़कर नष्ट करनेवाले हैं—साधुगुरुओंके रक्षक हैं—अतः मेरी भी रक्षा कीजिये—मुझे भी इन दुष्ट पापकर्मोंसे बचाइये। आप मेरे अपराधोंपर दृष्टिपात न कीजिये; क्योंकि आपकी क्षमा अपार है अथवा आपमें उक्त बातोंको पूर्णकरनेकी अपरिमित सामर्थ्य है। यहां आचार्यने अपने लिये 'वृद्ध' विशेषण दिया है जिसका अर्थ संस्कृत टीकाकारने वृद्ध किया है, इससे मालूम होता है कि—यह रचना आचार्य समन्तभद्रके वृद्धजीवन की है ॥८४॥

## अर-जिन-स्तुतिः

( गतप्रत्यागतपादपादान्यासयमकाक्षरद्वयविशेषितश्लोकः )

वीरावार वारावी वरोरुस्तोत्रम् ।

वीरावारवारावी वारिवारि वारि वा ॥८५॥

वीरेति—पादे पादे पादभूतः पाठः कमेय विपरीततोपि ताद-  
रभूत एव । प्रथमपादः पुनरावर्तितः । रेफवकाशमेव चर्चो नान्ये चर्चा-  
यतः ।

विरूपा ईश गतिः वीरा तं वारयति मङ्गलादयतीति कस्तंरि किम्  
वीरावाद् तस्य सम्बोधनं हे वीरावाद् कुगतिनिवाः । अर अष्टादशतीर्थ-  
कर । वाराण् भक्तिकान् अभवि पाजयतीत्येवंशीलः वारावी भाक्तिकजन-  
रक्षक इत्यर्थः । वरं दृष्टफलं राति ददातीति वररः वरद इत्यर्थः तस्य  
सम्बोधनं हे वरर । उरुर्महान् । उरोर्महतः महतोपि महान् भगवानि-  
त्यर्थः । अथ रक्ष ! हे वीर शूर ! अवारम्भेण अप्रतिहतवाचया आरोति  
भवन्पति भव्यान् प्रतिपादयतीत्येवंशीलः अवारवारावी अप्रतिहतवाचया  
वदनशीलः इत्यर्थः । कयमिन्न वारि व्यापि । वारि पानीयम् । वारि च  
वत् वारि च तत् वारिवारि वारिवारि राति पृथातीति वारिवारि-  
रस्मिन् वारिवारि सर्वव्यापिनीदे । वारि ॥ अलमिदम् । वा शब्दः  
इवार्थे दृश्यः । किमुक्तं मंचति—हे अरतीर्थेश्वर वीरावाद् वरर वीर-  
वारावी त्वं उरोरपि उरुः त्वं तथा अवारवारावी त्वं यथा वारिवारि-  
वारि वा यतः यतः अथ । सामान्यवचनमेतत् सा अथ अन्यथा  
पाठय ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे नरकादि कुगतिस्थोको निवारण करनेवाले ! हे  
भक्तपुरुषोके रक्षक ! हे दृष्टफलोके देनेवाले ! हे शूरवीर ! हे  
अरनाथ स्वामिन् ! आप महान्से महान् हैं—सबसे बड़े हैं—  
श्रेष्ठ हैं और आपकी दिव्यध्वनि उस तरह सब जगह अप्रति-

हृत है—बेरोकटोक प्रचलित है जिस तरह कि समस्त आकाशमें व्याप्त होने वाले बादलोंमें अल रहता है। हे प्रभो ! आप मेरी तथा अन्य जीवोंकी रक्षा कीजिये ॥ ८५ ॥

( अनुलोमप्रतिषोमश्लोकः )

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुचानुतः ।

भो विभो नशनाजोरुनमू न विजरामय ॥८६॥

रक्षमेति—कमपाठेनैकरश्लोकः विपरीतपाठेनाप्यपरश्लोकः । अर्थः भविष्यः ।

रक्ष पाक्षय । मा अस्मदः इवन्तस्य रूपम् । अक्षर अनक्षर । वामेश प्रधानस्थामिन् । शमी उपशान्तः स्वमिति सम्बन्धः । चारुचानुतः शोभनभक्तिना पुरुषैश्च प्रणुतः । भो विभो हे त्रैलोक्यगुरो । अनशन अनाहार अविनाश इति वा । अज परमात्मन् उरवः महत्तः नम्राः नमनशीलाः यस्यासाधुवनः तस्य सम्बोधने हे उरुनम । इन स्वामिन् । विजरामय विगतबुद्धस्वभावे । किमुक्तं भवति—हे अर अक्षर वामेश शमी चारुचानुतः भो विभो अनशन अज उरुनम इन विजरामय मा रक्ष ॥ ८६ ॥

अर्थ—हे त्रिलोकपते ! अरनाथ ! आप विनाश-रहित हैं, इन्द्रोंके भी इन्द्र हैं, शान्तरूप हैं, बड़े-बड़े भक्त पुरुष आपकी स्तुति करते हैं, आप आहाररहित हैं, अज हैं, बड़े-बड़े पुरुष आपको नमस्कार करते हैं, आप सबके स्वामी हैं और बुढ़ापा तथा व्याधियोंसे रहित हैं अतः आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ८६ ॥

( अनुलोमप्रतिषोमश्लोकः \* )

यमराज विनम्रे न रुजोनाशन भो विभो ।

तनु चारुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

१—८६ तदर्थः श्लोकको विपरीतक्रमसे पढ़ने पर यह श्लोक बन



यमेति—यमराज व्रतस्वामिन् । यमैः राजते-शोभते इति वा ।  
 विनम्राः विनमनशीलाः इत्याः इन्द्राकांक्षयो यस्यासी विनम्रनेनः तस्य  
 सम्बोधनं विनम्रनेन । रजोनाशनं व्याधिघ्निनाशकं । भो विभो हे  
 स्वामिन् । तनुं कुरु विस्तारय वा । चारुचामीश शोभनदीप्तीनां प्रभो !  
 शमेव सुखमेव । आरक्ष पराजय । मा अस्मदः ह्यन्तस्थं स्वम् । अक्षर  
 अविनाश । समुदायार्थः—हे छर यमराज विनम्रनेन रजोनाशनं मो विभो  
 चारुचामीश शोभनदीप्तानां प्रभो अक्षर शमेव तनु मा आरक्ष । सुख-  
 नत्यर्थं कुरु मां पाक्षयेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप व्रतोंके स्वामी हैं अथवा व्रतोंसे  
 शोभायमान हैं, इन्द्र-अहमिन्द्र आदि भी आपको नमस्कार करते  
 हैं, आप समस्त रोगोंको नष्ट करने वाले हैं, उत्तम शोभाके  
 स्वामी हैं और अविनाशी हैं । हे नाथ ! मोक्ष-सुखको विस्तृत  
 कीजिये और मेरी रक्षा कीजिये ।

विशेष—यह श्लोक श्लेषालंकारसे सूर्यपक्षमें लग सकता  
 है । यथा—‘हे शनिमहिरूप स्वपुत्रसे शोभायमान ! हे आकाश-  
 नम्र—गगनसंचारिन् ! हे रोगापहारिन् ! हे गगनैकनाथ !  
 हे अखिल व्यवहारके देनेवाले ! हे सुन्दरकिरणोंके नायक ! हे  
 अरनाथरूपी सूर्य ! सुखको विस्तृत करो और मुझे दुःखोंसे  
 बचाओ ॥ ८७ ॥

जाता है । अर्थ भी उससे विभिन्न रहता है । और इस श्लोकको  
 उलट कर पढ़नेसे ८६ वाँ श्लोक बनजाता है, इससे यह प्रथा ८६  
 नम्बरका श्लोक अनुलोम-प्रतिबोध्य कहलाता है ।

● सूर्य-पक्षमें संस्कृत टीका निम्न प्रकार होगी :—

हे हन हे सूर्य ! ‘हनः पथौ नृपे सूर्ये,’ इति विश्वलोचनः । अन्यानि  
 क्षम्नोषमान्यस्यैव विशेषणानि । यथाहि—हे रजोनाश । हे व्याधि-

( गतप्रत्यागतभागः )

नय मा स्वयं वामेश शमेवार्य स्वमाय न ।

दमराजत्तवादेन नदेवात्तज्वरामद ॥८८॥

नयेति—नय प्रापय । मा अस्मदः ह्यन्तस्थ रूपम् । सु शोभना-  
अर्थः स्वामी स्वयं तस्य सेम्बोधनं हे स्वयं सुस्वामिन् । वामेश प्रधा-  
नेश । शमेव सुखमेव । आर्य साधो । सुष्ठु धर्मायः स्वमायः तस्य  
सम्बोधनं हे स्वमाय । न नत्वर्थः । अथवा आ समतात् अर्यते गम्यते  
विनाशक ! “शीर्षाग्राद्याद्विभ्रराणोन् अस्तिमिरपयनैर्घर्घराभ्यक्त-घोषान्,  
दोर्वाग्रातामधौः पुनरपि घटयत्येकजलप्रयन्थः । धर्मीशोस्तस्य  
वोऽन्तर्द्विगुणघनघृष्टानिघ्ननिर्विश्ववृत्तेर्दत्तावाः सिद्धसंचै विदधतु  
घृष्टायः शीघ्रमंहोविजातम्” ॥ ( मधूरकृत-सूर्यशतके सूर्यस्तुतिः )  
इत्यादौ सूर्यस्य राजोविनाशकत्वं प्रसिद्धम् । हे नमो विभो ! नभसो  
गगनस्य विभुः स्वामी तत्सम्बुद्धौ । हे यमराज ! यमेन शनैश्चरमाहे-  
स्वपुत्रेण राजते शोभते तत्सम्बुद्धौ । शनिः सूर्यस्य पुत्र इति उग्रोत्पि-  
शास्त्रे प्रसिद्धम् । ‘यमोऽन्यलिङ्गो यमजे ना काके शमने ऋणौ, इति  
मेदिनी । हे विभन्न ! धौ आकाशे नञ्स्त्वत्सम्बुद्धौ ‘विः स्वर्गाकाशयोः  
पुमान्’ इति तिरवलोचनः । हे चारुचामीश ! सुन्दर किरणानां स्वामिन् ।  
हे अक्षर ! अक्षान् व्यवहारान् रीति ददातीत्यक्षरस्तत्सम्बुद्धौ ‘अक्षो ज्ञातार्थ-  
शकट-स्थवहारेषु पाशके’ इति मेदिनी । हे उन्नत विशेषण-विशिष्ट-  
विनकर ! स्तं-सुखं तनु-विस्तारय माम् आरक्ष चान्धतमसादिति शेषः ।  
अथवा तनुचारुधाम्-शरीरसुन्दरशोभागाम्-इत्येकं पदम् । माक्षर  
मया लक्ष्म्या अक्षरोऽभिनन्दनस्तत्सम्बुद्धावित्यप्येकं पदम् । शमेव-सुख-  
मेव आरक्ष-आसमन्तः’ वृत्तेति कर्तृकर्मसम्बन्धः । अत्र ह्यन एव ह्यन  
इति । स्तोत्ररूपकाश्रये अस्कारादिशयो भवेदिति संक्षेपः ॥ ८७ ॥

१ दमराज + ऋतवाद + ह्यन इति पदच्छेदः । २ ‘अर्थः स्वामि-  
वैश्ययोः इत्यमरः’ ।

परिनिष्ठयते यः सः आर्यः अर्थ इत्यर्थः, आर्यस्य स्वः आत्मा आर्यस्वः, स मिमीते इति कर्त्तरि कः, आर्यस्वमं अयनं ज्ञानं यस्यासौ आर्यस्व-  
मायनः स्वस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः, तस्य सम्बोधनं हे आर्यस्वमायन ।  
दमस्य इन्द्रियजयस्य राजा स्वामी दमराजः । उःसान्तः । अथवा दमेन  
राजत इति दमराजः तस्य सम्बोधनं हे दमराज । कर्त्त सत्यं वादः कथनं  
यस्यासौ कर्त्तवादः तस्य सम्बोधनं हे श्रुतवाक् सत्यवाक्य । इन प्रभो  
मास्वन् । देवः क्रीडा, आर्त्तं पीडा, जरा वृद्धत्वं, मरुः कामोद्वेकः ।  
देवश्च आर्त्तं च जरा च मरुश्च देवात् जरामदाः न विद्यन्ते देवात् जरा-  
मदाः यस्यासौ नदेवात् जरामदः । नञ् प्रतिकूलकोर्यं भि संक्षको नकारः  
अतः अनादेशो न भवति । तस्य सम्बोधनं हे नदेवात् जरामद । एत-  
दुक्तं भवति—हे अरनाथ स्वयं वामेश आर्य स्वमाय आर्यस्वमायन वा  
दमराज श्रुतवाक् इह नदेवात् जरामद ननु मा शमेव नम सुखमेव  
मापय । मां न दुःखमिश्रुक्तं भवति ॥ ८८ ॥

अर्थ—हे उत्कृष्ट नायक ! हे इन्द्रोके इन्द्र ! हे मायारहित ।  
अथवा हे स्वपर-प्रकाशकज्ञानसंयुक्त ! हे इन्द्रियदमनरूपसंयमसे  
शोभायमान ! हे सत्यवादिन्—अनेकान्त दृष्टिसे पदार्थोंका सत्य-  
स्वरूप बतलानेवाले ! हे क्रीडा, पीडा वृद्धापां तथा अहङ्कारसे  
रहित ! अरनाथस्वामिन् ! मुझे एकमात्र सुख-शान्तिको ही प्राप्त  
कराइये—संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर पूर्ण सुख-शान्ति प्रदान  
कीजिये ॥ ८८ ॥

(अथैकैकाग्रशान्तिरितमुरजबन्धः)

वीरं मा रक्ष रक्षार परश्रीरदर स्थिर ।

धीरधीरजरः शूर वरसारक्षिरक्षर ॥ ८९ ॥

वीरेति—इष्टपादेन चतुर्थां मध्ये ॥ अर्थात्तदेव मुरजबन्धो  
निरूपयितव्यः ।

३ देवनं देवः क्रीडेत्यर्थः ।

वीरं शूरं । अथवा विरूपा द्वारा गतिवैस्यासौ वीरः । अथवा व्या-  
हृच्छाया ईरा...सस्यासौ वीरः तं वीरम् । वा अस्मदः इवन्तस्य रूपम् ।  
रक्ष पालय । रक्षां सेमं राखि ददाति रक्षारः तस्य सम्बोधनं हे रक्षार  
अनयत् । परा श्रेष्ठा श्रीरक्ष्मोर्षस्यासौ परधीः त्वमिति सम्बन्धः । अचुर  
अमय । स्थिर अचल । शीरधीः राम्भोरबुद्धिः अगाधधिषण इत्यर्थः ।  
अजरः अरामरक्षरहितः । शूर वीर । घरा श्रेष्ठा सारा अनरक्षरी क्रद्धिः  
विभूतिवैस्यासौ वरसारद्धिः । अचुर क्षयरहित । एतदुक्तं भवति—हे  
रक्षार परधीस्त्वं अचुर धीरधीस्त्वं स्थिर अजरस्त्वं शूर वरसारद्धिस्त्वं अचुर  
वीरं मा रक्ष ॥८६॥

अर्थ—हे अरनाथ ! आप समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले  
हैं, उत्कृष्ट लक्ष्मोसहित हैं, निर्भय हैं, स्थिर हैं, अगाध-बुद्धिके  
के धारक हैं, जरामरणसे रहित हैं, शूरवीर हैं, श्रेष्ठ और अवि-  
नाशी हानादि-सम्पत्तिसे युक्त हैं तथा अचुर हैं—विनाश-  
रहित हैं । अतः मेरी भी रक्षा कीजिये—मैं संसारपरिभ्रमणसे  
निवृत्त होना चाहता हूँ ॥८६॥

## मल्लि-जिन-स्तुतिः

( अष्टांशमः )

आस यो नतजातीय्यां सदा भत्वा स्तुते कृती ।

यो महामतगोतेजा नत्वा मल्लिमितः स्तुत ॥९०॥

आसेति—आस अस्वत्तिस्म । यः यदो धाम्निस्व रूपम् । नतस्य  
अणुतस्य जातिः उत्पत्तिः नतजातिः नतजातेरीयां प्राप्तिः नतजातीय्यां  
तां नतजातीयां । सदा सर्वकालम् । भत्वा ज्ञातवा । अथवा कनिष्ठन्तोर्थ  
प्रयोगः, भत्वा ज्ञातेत्यर्थः । स्तुते नुते पूजिते । कृती अमरवरकीर्तिः  
तीर्थकरकर्मा पुत्रधानित्यर्थः । यः यदो रूपम् । सर्व आगमः, गौरीणी,  
जेजः केवलज्ञानं, इन्द्रः, महान्वा । महामतेजासि यस्यासौ महामतगो-

तेजाः । नस्वा स्तुत्वा तमिति सम्बन्धः । तं मल्लि एकोनविंशतीर्थकरम् ।  
इतः प्राप्तः । अथवा इतः ऊर्ध्वं अस्तुतेरुर्ध्वम् । स्तुतं पुनः । स्तु  
इत्यस्य घोः लोटन्तस्य रूपं बहुवचनान्तम् । एतदुक्तं भवति—यः  
मल्लिः नतजातोर्था आस सदा मत्वा स्तुते सति कुटी यत्र महामतगो-  
तेजाः तं मल्लिनाथं मत्वा इतः स्तुत ॥६०॥

अर्थ—जिन्होंने भव्य-पुरुषोंके जन्म-मरण आदि रोग नष्ट  
कर दिये हैं, जो हर एक समय अनन्त पदार्थोंको जानते  
रहते हैं, जिनकी स्तुति करनेसे साधु पुरुष तीर्थकर जैसे साति-  
शय पुण्य कर्मको प्राप्त हो जाते हैं तथा जिनका आगम दिव्य-  
ध्वनि और ज्ञान सबसे विशाल है, ऐसे मल्लितीर्थकरको प्राप्त  
होकर हे भव्यजनो ! नमस्कारपूर्वक उनकी स्तुति करो ॥६०॥

### मुनिसुव्रत-जिन-स्तुतिः

(निरोद्धयधोदैकाक्षरान्तारितमुरजयन्धो  
गोमुद्रिका षोडशदलपद्मरच )

स्तानं चैनश्च नः स्येन हानहीन धनं जिन ।

अनन्तानशनं ज्ञानस्थानस्थाऽऽनत-नन्दन ॥९१॥

स्तानमिति—स्तानं च स्तानि च । एनश्च पापं च । नः कस्माकम् ।  
स्य विनाशाय । हे हन स्थाभिन् । हानहीन चरुहित । धनं निधिदम् ।  
जिन परमात्मन् । अनन्त अमेव अक्षयधुणपर्यन्त । अनशन अविनाश  
निराहार इति वा । ज्ञानस्थानस्थ केवलज्ञानधामस्थित । आनतनन्दन  
प्रयत्नजनवर्धन । उत्तरश्लोके मुनिसुव्रतप्रदं तिष्ठति तेन सह सम्बन्धः ।

१ स्य + हन इति पदद्वन्द्वः । स्य इति 'योऽङ्गतकर्मणि' इत्यस्य-  
भाषोक्तोत् मध्यमपुरुषवैक्यचनैकरूपम् । २ नशनरहित अथवा अशरहित ।

हे मुनिसुव्रत इह हानहोमं जिन अनन्त अनशन ज्ञानस्थानस्य आनन्त-  
मन्दनं ग्लानं च एतदर्थं नः स्व ॥६१॥

अर्थः—हे मुनिसुव्रत स्वामिन् ! आप क्षयरहित हैं, कर्मरूप  
शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, अतन्त्र हैं—अपरमित गुणोंसे  
सुशोभित हैं, नाशरहित हैं अथवा आहार-रहित हैं, केवलज्ञान-  
रूप स्थानमें स्थित हैं और प्रणत पुरुषोंको बढ़ानेवाले हैं—  
समृद्ध करनेवाले हैं। हे प्रभो ! हमारे भी यह ग्लानि और  
(रागादिरूप) पाप परिणति दूर कीजिये।

( अद्भुतमः )

पावनाजितगोतेजो वर नानाव्रताक्षते<sup>१</sup> ।

नानादर्च्यं सुवीतागो जिनार्यं मुनिसुव्रत<sup>२</sup> ॥६२॥

पावनेति—पावन पवित्र । गौरव तेजश्च गोतेजसो, न जिते गोते-  
जसो दायीज्ञाने यस्यासावजितगोतेजाः तस्य सम्बोधनं हे अजितगोतेजः ।  
वर ओष्ठ । नानाव्रत नानानुष्ठानं । वृद्धमस्थावस्थायामाचरणकथनमेतत् ।  
अक्षते अक्षय । नानाभूतानि आरचयामि वक्ष्यः प्रातिहार्याणि च  
यस्यासौ नानाश्रयः, तस्य संबोधनं हे नानाश्रय । सुष्ठु, क्षीतं विनिष्टं  
आनः पापं अपराधो यस्यासौ सुवीतागाः तस्य संबोधनं हे सुवीतागः  
जिन जितेन्द्र । आर्यं स्वामिन् । मुनिसुव्रत विशतितमतीर्यकर । अति-  
शान्तेन क्रियापदेन स्व हृदयेन सह सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति—हे  
पावन अजितगोतेजः वर नानाव्रत अक्षते नानाश्रयं सुवीतागः धिन  
आर्यं मुनिसुव्रत नः आस्माकं ग्लानं एतदर्थं नः स्व विनाशाय ॥६२॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप परम पवित्र हैं—राग आदि  
दोषोंसे रहित हैं, आपकी दिव्यध्वनि और आपका केवलज्ञान-

<sup>१</sup> अक्षते ! अक्षति शब्दस्य सम्बोधने रूपम् ।

<sup>२</sup> नो ग्लानिमेवमर्थस्य स्व विनाशाय इति पूर्वश्लोकेन साकम्बन्धः ॥

रूपी तेज अजय है—इन्हें कोई नहीं जीत सकता । आप अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, आपने त्र्यम्बक अन्तर्यामि—केवलज्ञान प्राप्त होनेके पहले—अनेक प्रतीको धारण किया था, आप ज्ञय-रहित हैं, अनेक आश्चर्य-सहित हैं—ऋद्धियों और प्रातिहार्योंसे युक्त हैं—आपके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं; आप जिनेन्द्र हैं तथा सबके स्वामी हैं । हे मुनियुवत भगवन् ! हमारी भी सांसारिक ग्लानि और पापपरिणतिको नष्ट कर दीजिये ।

यहां कियादका सम्बन्ध पूर्व श्लोकके साथ है ॥६२॥

### नमि-जिन-स्तुतिः

( गतप्रत्यागतपादयमकाक्षरद्वयविरचितसन्निवेशविशेष-  
समुद्गतामुल्लोमप्रतिजोमरलोकयुगलश्लोकः )

नमेमान नमामेनमानमाननमानमा<sup>१</sup>—

मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥९३॥

नमेति—गतप्रत्यागतपादयमको नकारमकाराक्षरद्वयविरचितश्लोक-  
श्रृयं श्लोकयुगलमित्यर्थः । अन्यद्विशेषं मुख्योभनार्थम् ।

हे नमे एकश्रितीर्थकर । अमान अपरिमेय । अमान प्रथमतः स्वामित्यध्याहार्यमर्थसामर्थ्याद्वा लभ्यम् । इमं स्वामिनम् । आनानां प्राणिनां माननं प्रबोधकं, मानं विज्ञानं यस्यासौ आनमाननमानः तं आनमाननमानं मध्यवाग्निप्रबोधकविज्ञानमित्यर्थः । आन इति अन स्वस मन्त्रे इत्यस्य धोः धनस्तस्य रूपम् । माननमिति मन शाने इत्यस्य धोः क्षिमा युद्धन्तस्य रूपम् । आमानमः आ समन्तात् चिन्तयामः । मन अभ्यासे इत्यस्य धोः बद्धन्तस्य रूपम् । अनु पश्चात् नुमः वन्दामहे ।

<sup>१</sup> असनामः इति पदच्छेदः । अत्र द्वितीयपादस्य तृतीयपादेन सह सम्प्रतिष्ठान्धः परच माथोऽप्यात्राऽप्रतिष्ठः ।

अनामनं च—नमनप्रयोजकं मनः चित्तं यस्यासौ अनामनमनाः तस्य सम्बोधनं हे अनामनमनः बजात्कारेण न पराङ्मनामयतीत्यर्थः, अनेन बीतरागत्वं स्थापितं भवति । अथवा नामनानि नमनशीलानि मनोसि चित्तानि यस्माद् भवन्ति तसौ नामनमनः तस्य सम्बोधनं हे नामनमनः । अथवा नामनं स्तुतिनिमित्तं मनः चित्तं यस्मादसौ नामनमनः तस्य सम्बोधनं हे नामनमनः । अमम हे अमोह । नः अस्मात् । मम अस्या-  
स्य चिन्तय इत्यर्थः 'मम अस्यासे इत्यस्य धोः धोवन्तस्य रूपम्' । एवमुक्तं भवति—हे नमो अमान अमम अनामनमनः त्वां हर्न आन-  
माननमानं आमानामः नमाम अन्तु तुमः यस्माच्चस्मात् नः अस्मात्  
मन चिन्तय ॥६३॥

अर्थ—हे नमिनाथ ! आप अपरिमेय हैं—हमारे जैसे अल्पज्ञानियोंके द्वारा आपका वास्तविक रूप नहीं समझा जाता । आप सबके स्वामी हैं । आपका ज्ञान सब जीवोंको प्रबोध करने-  
वाला है । आप किसीसे उसकी इच्छाके विरुद्ध नमस्कार नहीं  
कराते । आप बीतराग हैं और मोह-रहित हैं अतः आपको  
सदा काल नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता  
हुआ आपकी स्तुति करता हूँ । प्रभो ! मेरा—मुझ शर-  
णागतका—भी सदा ध्यान रखिये—मैं आपके समान पूर्ण ज्ञानी  
वथा मोह-रहित होता चाहता हूँ ॥ ६३ ॥

न मे माननभाषेन मानमाननमानमा—

मनामो तु तु मोनमनमनोम मनोमन ॥ ६४ ॥

नमोमेति—न प्रतिषेधवचनम् । मे मम । माननं पूजनं प्रसुखं  
स्वातन्त्र्यमित्यर्थः । आमेन शोभेत् संसारदुःखेन कर्मणा इत्यर्थः । किंवि-  
शिष्टेनामेन मानमा मानं ज्ञानं विनाति हिसयतीति मानमाः तेन  
मानमा । अननं प्राक्कर्म जीवने सिनाति हिसयतीति मानमाः तेन शक-  
यम् । अय समन्तात् नमन्तीन्द्रियात्मनाः स्तुतेः कर्तारः । आनमानां समनं



रोगः व्याधिः आनमामनं सत् अमति रुजति मनतीति 'कर्मवयम्'  
 आनिमामनामः त्वमिति सम्बन्धः । नु वितर्के । अग्योपि नु वितर्के ।  
 मा लक्ष्मीः तथा ऊनाः रहिताः मोनाः मोनानां आमः रोगः मोनामः  
 सं नाभयतीति मोनामनमनः त्वमिति सम्बन्धः । अम गच्छ । मे हृद-  
 व्याहार्यः । मनः चित्तम् । अमन कान्त कमनीय । एवमुक्तं भवति—  
 आनमामनामो नु त्वं यस्मात् मोनामनमनो नु यस्मात् त्वं सस्मात् हे-  
 नमे अमन मे मनः अम गच्छ यस्मात् मे मन माननं नास्ति आमेन कि-  
 विशिष्टेन मानमा पुनरपि अननमः ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रभो ! जो आपको भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता है आप  
 उसके सब रोग नष्ट कर देते हैं तथा जो ज्ञानादिलक्ष्मीसे रहित  
 हैं—यस्तुतः निर्धन हैं—उनके भी समस्त सांसारिक रोगोंको नष्टकर  
 देते हैं । इसके सिवाय आप अत्यन्त सुन्दर हैं । हे नमिजिन ! ज्ञान  
 शुण्डो घातनेवाले तथा जीवके शुद्ध स्वरूपको नष्ट करनेवाले  
 इन कर्मरूपी रोगोंने मेरा समस्त प्रभुत्व अवधा स्वातन्त्र्य  
 हर लिया है अतः आप मेरे हृदय-मन्दिरमें प्रवेश कीजिये,  
 जिससे कि मेरी स्वतन्त्रता मुझे प्राप्त हो सके ।

भाषार्थ—यहां आचार्य समन्तभद्रने भगवान् नमिनाथकी स्तुति  
 करते हुए कहा है कि आप भक्तपुरुषोंके समस्त रोग-दुःख नष्ट  
 कर देते हैं तथा दरिद्र मनुष्योंके भी आप अत्यन्त हितैषी हैं—  
 उनके भी दारिद्र्यजनित समस्त रोग-दुःख नष्ट करदेते हैं । हे  
 प्रभो ! मेरे पीछे भी यह दुःखदायी संसाररूपी रोग पड़ा हुआ है  
 इसने मेरी सर्व स्वतन्त्रताको हर लिया है । मेरी केषलज्ञानादि  
 सम्पत्ति भी इसके द्वारा हरली गई है अतः मैं एक तरहसे  
 दरिद्र तथा असमर्थ हो रहा हूं अतः आप मेरे हृदयमें प्रवेशकर  
 मेरे सब रोगोंको दूर कर दीजिये । जिसमें रोग दूर करनेकी  
 सामर्थ्य होती है उसीसे तो प्रार्थना की जाती है । श्लोकका सार  
 आशय यह है कि आपका ध्यान करनेसे जीवोंके समस्त सांसा-

रिक्त रोग दूर हो जाते हैं, फलतः वे जोय सर्वथा नीरोग हो कर मुक्त हो जाते हैं और सदाके लिये अपने स्वाधीन सुखके उपभोक्ता बन जाते हैं ॥६४॥

( अनुलोमपतिलोमसकृद्वरलोकगतप्रश्यागताङ्गः । )

नर्दयाभर्त्तवागोद्य द गोवार्त्तभयार्दन ।

तमिता नयजेतानुनुतज्येय नतमित ॥६५॥

नर्दयेति—गतप्रश्यागतार्थ इत्यर्थः । हे नः पूज्यपुरुष । दया एव आभा रूपं यस्यासौ दयाभः तस्य सम्बोधनं हे दयाभ वयस्वरूप । अथा सस्या वाक् वाणी कृतवाक् सत्यवचनम्, आ समस्ता उद्यत इत्योक्तम्, कृतवाचा सत्यवाण्या ओद्य आकारं यस्यासौ कृतवागोद्यः तस्य सम्बोधनं हे कृतवागोद्य । य खण्डय । गोवार्त्तं, वार्त्तं व वार्त्तं, गोः वार्त्तं गोवार्त्तं वचनवार्त्तं । भयानां भयार्दनः विनाशकः भयार्दनः । गोवार्त्तं न भयार्दनः गोवार्त्तं भयार्दनः अथवा गोवार्त्तं न भयार्दनं यस्मादसौ गोवार्त्तं भयार्दनः तस्य सम्बोधनं हे गोवार्त्तं भयार्दन वचनवार्त्तं या भयविनाशक तमिताः खेदरूपाणि दुःखानीत्यर्थः । नयैज्यनशीलः नयजेता स्वमिति सम्बन्धः । हे अनुनुत सुपूजित इत्यर्थः । अजेयः पराजेय अजय इत्यर्थः । नताः प्रणताः अमिता अपरिमिताः हन्दादयो यस्यासौ नतमितः तस्य सम्बोधनं हे नतमितः । एतदुक्तं भवति—हे नः, दयाम्, कृतवागोद्य, गोवार्त्तं भयार्दन अनुनुत अजेय नतमित नयजेता एवं यतस्तत्स्वत्वं तमिताः दुःखानि य खण्डय । अस्माकं अनुक्तमपि सम्पते ॥६५॥

अर्थ—हे नमिनाथ ! आप पूज्य हैं, दयास्वरूप हैं अथवा दयासे शोभायमान हैं, अनेकान्तरूप सत्यवाणीके द्वारा ही आपका स्वरूप जाना जाता है । आपके उपदेशकी चर्चा मात्रसे समस्त भय नष्ट हो जाते हैं। आपने अनेकान्तके-परस्पर सापेक्षनय वादके-द्वारा समस्त जगत्को जीत लिया है । आपकी सब स्तुति

करते हैं। विश्वको कोई भी शक्ति आपको नहीं जीत सकती—आप अजेय हैं। इन्द्र नरेन्द्र आदि असंख्यात जीव आपको नमस्कार करते हैं। हे प्रभो ! मेरे अन्तर्मरणके दुःखोंको दूर कीजिये ॥६५॥

(अमुज्जोमप्रतिज्जोम-गतप्रत्यागतश्लोकः)

हृत्तभीः स्वय मेध्याशु<sup>१</sup> शं ते दातः श्रिया तनु ।

नुतया श्रित दान्तेश शुद्धयामेय स्वभीत ह<sup>२</sup> ॥६६॥

हृत्तेति—गतप्रत्यागतश्लोक इत्यर्थः । हृत्तभीः विनष्टभयः त्वं । स्वयः शोभनः अथो यस्यासौ स्वयः तस्य सम्बोधनं स्वय । मेध्य पृत । आशु शीघ्रम् । शं सुखम् । ते तव । दातः दानशीलः । श्रिया सचम्या । तनु कुरु देहि विहर विस्तारय इति पर्यायाः । नुतया पूजितया । श्रित सेव्ये । दान्तेश मुनीश । शुद्धया केवलज्ञानेन । अमेय अपरिमेय । स्वभीतः स्वभीतः तस्य सम्बोधनं स्वभीत अनन्तवीर्यं इति संबोधकः । समुदायायः—हे नमो यतः त्वं हृत्तभीः । यः मेध्य दातः श्रिया नुतया श्रित दान्तेश शुद्धयामेय स्वभीत ते तव यत् शं सुखं तत् तनु कुरु देहि इत्युक्तम् ॥६६॥

अर्थ—हे तमिनाथ ! आप भयरहित हो, महापुण्यमानहो—तीर्थकरनामकर्म-जैसी पुण्यप्रकृतिके लक्ष्यसे युक्त हो, पवित्रहो, दानशीलहो, अत्यन्तलक्ष्मण अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मणे सेवित हो, मुनिपौके स्वामी हो, केवलज्ञानरूपी शुद्धिसे अमेय हो—आपका केवलज्ञान मानरहित है—अनन्त है। और आप अनन्तवीर्यसे सहित हैं यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। हे प्रभो ! आपमें जो अनन्त आत्मीय सुख है वह मुझे भी शीघ्र दीजिये ॥६६॥

## नेमि-जिन-स्तुतिः

( इन्द्रधरश्लोकः )

मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम् ।

मनूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन् ॥९७॥

मानोनेति—मकारमकाराक्षरैर्विरचितो यतः । मानोनानां गर्व-  
हानानां । अनूनानां अहीनामां । चारित्र्यसम्पूर्णानामित्यर्थः । मुनीनां  
साधूनां । मानिनां पूजितानां । इमं स्वामिनं । मनूनां ज्ञानिनां । मनु  
शब्दोऽयं मन ज्ञाने इत्यस्य धोः श्रीशार्ङ्गिकस्यान्तस्थ रूपम् । अनुनौमि  
सुष्ठु स्तोमि । इमं प्रत्यक्षवचनं । नेमिनामानं अरिन्दनेमिनाथम् । आन-  
मन प्रथमम् । अहमिति संबन्धः । समुदायार्थः—इमं नेमिनामानं किं  
विशिष्टं इमं स्वामिनं केषां नुनां किं विशिष्टानां मानोनानाम् अनु-  
नामां मानिनां मनूनां मानमन्तर्हं अनुनौम ॥९७॥

अर्थ—मैं (समस्तभद्र) अहंकार-रहित, उत्कृष्ट एवं सम्पूर्ण  
चारित्र्यके धारक, पूज्य और ज्ञानवान् मुनियोंके स्वामी भगवान्  
नेमिनाथको मत-वचन-कायमें पुनः पुनः नमस्कार करता हुआ  
उनकी निरन्तर स्तुति करता हूँ ॥९७॥

( अनुलोमप्रतिषोमैकरश्लोकः )

तनुतात्सद्यशोमेय शमेवार्थ्यवरो गुरु ।

रुगुरो वर्म्य वामेश यमेशोद्यत्सतानुत ॥९८॥

तनुतादिति—गतप्रत्यागत इत्यर्थः । तनुतात् कुरुतात् सद्यः शोभन-  
कोटौ । शोमेय अपरिमेय । शमेव सुखमेव । आर्याणां प्रधानानां वरः श्रेष्ठः  
आर्षधरः स्वमिति सम्बन्धः । गुरु महत् सुखेन सम्बन्धः । रुवा दीपका  
उदः महत् रुगुरुः तस्य सम्बोधनं हे रुगुरो दीपका महत् । वर्म  
प्रधान । वामेश शोभनेश । यमेश नवस्वामिन् । उद्यत्सतानुत उद्योगवता  
पश्चिद्वत्तनेन नुत स्तुत । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे नेमिनाथ सद्यः

शमेय रुगुरो वर्य वामेश समेश उच्छलता मुत आर्यवरस्त्रं गुरु शमेव समुवात् ॥६८॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका यश अत्यन्त निर्मल है, आप अल्पज्ञानियों के ज्ञान के अगोचर हैं—अल्पज्ञानों आपके वास्तविक रूप को नहीं समझ पाते, आप आर्य पुरुषों में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, इन्द्र अहमिन्द्र आदि प्रधानजनों के भी स्वामी हैं, ब्रह्मियों—मुनियों के नाथ हैं और बड़े-बड़े ऋक्ष पंडितजन भी आपको स्तुति करते हैं। हे प्रभो ! मुझे वह सर्वोत्कृष्ट नात्तरूप सुख ही प्रदान कीजिये जिसके आप नायक हैं—अन्य वैषायक सुख की मुझे इच्छा नहीं है ॥६८॥

### पार्श्व-जिन-स्तुतिः

( भुवज्जम्भः )

जयतस्तव पार्श्वस्य श्रीमद्भुतः पदद्वयम् ।

क्षयं दुस्तरपापस्य क्षमं कर्तुं ददज्जयम् ॥९९॥

जयेति—नमस्तः जयं कुर्वतः । तव ते । पार्श्वस्य त्रयोविंशतितीर्थ-  
कारस्य । श्रीमत् लक्ष्मीमत् । भुतः । महारकस्य स्वामिनः । पदद्वयं पदयुग-  
लम् । क्षयं विनाशम् । दुस्तरपापस्य अतिगहनपापस्य । क्षमं समर्थम् ।  
कर्तुं विधातुम् । ददज्जयं विधेयविजयम् । समुदायार्थः—जयतस्तव  
पार्श्वस्य भुतः पदद्वयं श्रीमत् ददत् जयं दुस्तरपापस्य क्षयं कर्तुं क्षमम्  
उत्तर-रत्नोक्तेन सम्बन्धः ॥९९॥

अर्थ—हे प्रभो पार्श्वनाथ ! आप कर्मरूप शत्रुओं को जीतने-  
वाले हैं, सबके स्वामी हैं, आपके चरणकमल अत्यन्त शोभायमान  
हैं, सर्वत्र विजय के देनेवाले हैं और कठिनसे कठिन पापों का

क्षय करनेके लिये समर्थ हैं। हे भगवन् ! आपके चरणकमल हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करें' ॥६६॥

(गूढतृतीयचतुर्थानन्तराक्षरद्वयविरचितवमकान्तरपादुमुरजबन्धः)

तमोक्षु ममतातीत ममोत्तममतामृत

ततामितमते तातमतातीतमृतेमित ॥ १०० ॥

तमोक्षुमेति—तत्र पार्श्वस्थ हृदयेतद्द्वयमनुवर्तते । तमोक्षु तमो भक्षयतु अज्ञानं निराकरोतित्रयर्थः । ममतातीत ममत्वातिक्रान्त । मम आत्मनः अरुमन्ः तान्तरस्य रूपं । तन्ममं प्रधानं मतामृतं आगमासृतं यस्यासौ उत्तममतामृतः, तस्य संबोधनं हे उत्तममतामृत प्रधानागमा-मृत । तता विशाला अमिता अपरिमिता मतिर्ज्ञानं यस्यासौ ततामित-मतिः तस्य सम्बोधनं हे ततामितमते विशालापरिमितज्ञान । तात इति मतः तत्तमः श्रेयाधिकृतैरिति तन्निधिः, तात इति शौर्णादिकः अयोगः तस्य सम्बोधनं हे तातमत । अतीतः अतिक्रान्ता मृतिः मरणं यस्यासौ अतीतमृतिः तस्य सम्बोधनं हे अतीतमृते अतिक्रान्तमरण । अमित अपरिमित । किमुक्तं भवति—हे पार्श्वभृतरक ममतातीत उत्तम-मतामृत ततामितमते तातमत अतीतमृते अमित तत्र पदद्वयं मम तमोक्षु भक्षयतु ॥ १०० ॥

अर्थ—हे पार्श्वनाथ ! आप ममता-रहित हैं—पर पदार्थों-में 'यह मेरा है और मैं इनका हूँ' ऐसा भाव नहीं रखते। आपका आगमरूपी अमृत अत्यन्त उत्कृष्ट है, आपका केवल-ज्ञान अत्यन्त विस्तृत और अपरिमित है—पाररहित है, आप सबके बन्धु हैं, नाश-रहित हैं, और अपरिमित हैं। आपके दोनों चरणकमल मेरे अज्ञान अन्धकारको नष्ट करें ॥ १०० ॥

१ तमोऽक्ष इत्युत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ।

२ पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः ।

(मुरजबन्धः)

स्वचित्तपटयालित्य जिनं चारु भजत्ययम् ।

शुचिरूपतया मुख्यमिनं पुरुनिजश्रियम् ॥ १०१ ॥

स्वचित्तोति—स्वचित्तपटे आरमोयचेतःपटके । आलित्य  
लिखित्वा । जिनं पार्वनाथम् । चारु शोभनं यथा भवति तथा क्रिया-  
विशेषशमेतम् । भजति सेवते । अयं जनः आत्मानं कथयति । शुचि-  
रूपतया शुद्धस्वरूपत्वेन । मुख्यं प्रधानं । इनं स्वामिनं । पुरु महतो  
निष्ठा आरमोया श्रीसर्वभूमिर्यस्यासौ पुरुमिजधीः अतस्तं पुरुनिजश्रियं  
महदाऽरमोयन्नपमीम् । समुदायार्थः—जिनं पार्वनाथं इनं पुरुनिजश्रियं  
मुख्यं आलित्य स्वचित्तपटे श्रमं जनो भजति । किं निमित्तं ? शुचिरू-  
पतया शुद्धस्वरूपमतिकृत्वा ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप कर्मरूपी रिपुओंको जीतनेवाले  
हैं, सबमें मुख्य हैं, सबके स्वामी हैं और आपकी अनन्त-  
चतुष्टयरूप लक्ष्मी सबसे बढ़कर है। हे प्रभो ! यह समन्तभद्र  
आपको अत्यन्त शुद्ध स्वरूप मानकर सुन्दर रीतिसे अपने चित्त-  
पटजपर लिखकर—मनमें ध्यान करता हुआ—आपकी आरा-  
धना करता है ॥ १०१ ॥

वर्धमान-जिन-स्तुतिः

(मुरजबन्धः)

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्दामितवितृषे ।

श्रीभते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥ १०२ ॥

धीमदिति—धीमाद् बुद्धिस्ताद् । सुवन्द्यः सुस्तुतः । मान्यः  
पूज्यः । धीमांश्चासौ सुवन्द्यश्च धीमत्सुवन्द्यः, धीमत्सुवन्द्यश्चासौ मान्यश्च  
धीमत्सुवन्द्यमान्यः तस्मै धीमत्सुवन्द्यमान्याय । अथवा धीमत्सु बुद्धि-

मस्तु मध्ये सुकन्धमान्याय । विदः बोधस्य तद् तृप्ता वितृट्, कामं  
अत्यर्थं, उद्दामित्रा उद्दामित्रा निराकृता वितृट् ज्ञानतृप्ता येनासौ कामो-  
द्दामितवितृट् तस्मै कामोद्दामितवितृट् । श्रीमते स्वामीभते । वर्धमा-  
नाय महावीराय चतुर्विंशतितोर्धकराय । नमः । अर्थं राक्षसो भिक्षुलोकः  
पूजा-वचनः । नमित्राः विद्विषो यस्यासौ नमितविद्विड् तस्मै नमित-  
विद्विषे अन्नः कृतवैरियो । समुदाचार्यः—नमोस्तु ते वर्धमानाय किं विशि-  
ष्टाय श्रीमत्सुकन्धमान्याय कामोद्दामितवितृट् श्रीमते नमितविद्विषे ॥१०२॥

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन् ! आप अत्यन्त बुद्धिमानों—आप  
ज्ञानके धारी राखधरादिकोंके द्वारा बन्दनीय और पूज्य हैं । आप-  
ने ज्ञानकी तृप्ताको धिलकुल नष्ट कर दिया है—आपको सर्वो-  
त्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त होगया है जिससे आपकी ज्ञान-विषयक  
समस्त तृप्ताएं नष्ट हो चुकी हैं, आप अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मीसे  
युक्त हैं और आपके शत्रु भी आपको नमस्कार करते हैं—  
आपकी अलौकिक शान्ति तथा लोकोत्तर प्रभावको देखकर  
आपके विरोधी बैरी भी आपको नमस्कार करने लग जाते  
हैं । अतः हे प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार हो ॥१०२॥

(सुरभजनः)

वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे ।

श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥ १०३ ॥

वामदेवेति—नमोवर्धमानायेति सम्बन्धः । वामानां प्रधानानां देवा-  
तस्य सम्बोधनं हे वामदेव । क्षमा क्षमेया यस्यासौ क्षमाजेयः तस्य  
सम्बोधनं हे क्षमाजेय । धाम्ना तेजसा उद्यमिता कृतोत्कृष्टा विद् विद्वान्  
धामोद्यमितविद् वां कृष्टे सेवते इति धामोद्यमितविज्जुड् तस्मै धामोद्य-  
मितविज्जुषे । अथवा क्षमेय धाम तेजो यस्याः सा अजेयधामा, उद्य-  
मिता उद्भूता विद् ज्ञानं उद्यमितविद्, अजेयधामा चासौ उद्यमितविज्जुषे



अजेयधामोद्यमितवित् तां जुष्टे इति अजेयधामोद्यमितविजुष्ट तस्मै  
 अजेयधामोद्यमितविजुष्टे । श्रीमते इत्यादि पूर्व पदार्थः । अथवा श्रिया  
 उपलब्धता मतिर्यस्यासौ श्रीमतिः तस्य सम्बोधनं हे श्रीमते । वर्धमाना  
 वृद्धिं गच्छन् अथः भार्गो यस्यासौ वर्धमानायः तस्य सम्बोधनं हे  
 वर्धमानाय । मा लक्ष्मीः तथा जनः मोनः न मोनः नमोनः तस्य सम्बो-  
 धनं हे नमोन । मित्ता परिमिता वित् ज्ञानं मितवित् तां विष्णुति  
 निराकरोति इति मितविद्विद् तस्मै मितविद्विषे । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे  
 वर्धमान श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ते नमः । पुनरपि हिं  
 विशिष्टाय वामदेव जामलेय धामोद्यमितविजुष्टे ॥ १०३ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप, इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों-  
 के भी देव-इन्द्र हैं, आपका ज्ञानागुण सर्वथा अजेय हैं, आप  
 सेजसे प्रकाशमान केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं, आपको मति—ज्ञान-  
 सम्पत्ति समवरणादि लक्ष्मीसे उपलब्धित है, आपके द्वारा अच-  
 लित मोक्षमार्ग हमेशा बढ़ता रहता है अथवा आपका पुण्य  
 चक्षुरोत्तर बढ़ रहा है, आप लक्ष्मीसे परिपूर्ण हैं तथा  
 मतिश्रुत आदि चायोपशमिक-अल्पज्ञानोंको दूर करनेवाले  
 हैं अतः आपके लिये नमस्कार हों ॥ १०३ ॥

(सुरजबन्धः)

समस्तवस्तुमानाय तमोष्णेमितवित्विषे ।

श्रीमतेवर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥ १०४ ॥

समस्तोति — समस्ते विश्वस्मिन् वस्तुनि पदार्थे मानं ज्ञानं यस्यासौ  
 समस्तवस्तुमानः तस्मै समस्तवस्तुमानाय । तमोष्णे अज्ञानविनाशकाय ।  
 विशिष्टा विद्व इति विशिष्ट अमिता विविष्ट यस्यासौ अमितविद्विष्ट  
 तस्मै अमितविद्विषे, श्रीमते इत्येवमादिषु पूर्व पदार्थः । अथवा श्रियं मिमीत  
 इति श्रीमः तस्य सम्बोधनं हे श्रीम । ते तुभ्यं । अथवा श्रियं अभ्यस्त  
 इति श्रीमत् तस्मै श्रीमते । कर्दे बुद्धं अथेन काम्या क्रद्धं अथर्द्धं,

अवर्धमानं ज्ञानं यस्यासौ अवर्धमानः अथवा अवर्धं अस्मिन्मं स्मानं यस्यासौ अवर्धमानः तस्मै अवर्धमानाय । मा पृथ्वी तथा कुतः मोनः न मोनः नमोनः अयं नञ् प्रतिकूपो म्लिंसङ्को नकारः अतो नञोभ्यत्रानादेशो न भवति तस्य सम्बोधनं हे नमोन । मितेन ज्ञानेन विनष्टा द्विद्-अप्रोतिर्यस्यासौ मितविद्विद् तस्मै मितविद्विधे । किमुक्तं भवति—हे ओमते नमोन तुभ्यं नमः किं विशिष्टाय समस्तवस्तुमानाय तमोज्ञे अमित-वित्तिधे अवर्धमानाय मितविद्विधे ॥ १०३ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञान संसारके समस्त पदार्थों-को जानता है, आप अज्ञान अथवा मोहको नष्ट करनेवाले हैं, आपके शरीरकी विशिष्ट कान्ति अपरिमित है—आप सर्वाङ्ग-सुन्दर हैं—अथवा आपका वित्तिवृत्—केवलज्ञान—अपरिमित है, आप लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं, आपका केवलज्ञान लोकोत्तर कान्ति-से वृद्धिको प्राप्त है अथवा आपका केवलज्ञान बिच्छेदसे रहित है—अखण्ड है, आप लोकत्रयरूप पृथ्वीसे रहित नहीं हैं—आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं और आपने अपने ज्ञानसे समस्त अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग शत्रुओंको नष्ट कर दिया है । अतः हे प्रभो ! आपके लिये नमस्कार हो ॥ १०४ ॥

( मुरजबन्धः )

प्रज्ञायां तन्वृतं गत्वा स्वालोकं गोर्विदास्यते ।

यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते १०५

प्रज्ञेति—प्रज्ञायां बुद्ध्यां । तनु स्तोत्रं । कर्तं कर्त्यं । गत्वा गतत्वा । स्वालोकं आरमावबोधनं । गोर्विदा पृथिव्या ज्ञाना-इति अस्म्यते । यस्य ज्ञानान्तर्गतं बोधाभ्यन्तरम् । भूत्वा प्रभूय । त्रैलोक्यं जगत्त्रयम् । गोष्प-दायते गोष्पवमिवात्मानमाधरति । समुदायार्थः—प्रज्ञायां तनु कर्तं गत्वा स्वालोकं गोर्विदा अस्म्यते । पुरुषेण तव पुनः ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा

सौख्यं गोपयामते तथापि न हर्षो नापि विषादो यतः स्वमेव सर्वज्ञो  
बोत्तरागरश्च अतः तुभ्यं नमोस्तु इति सम्बन्धः ॥१०२॥

अर्थ—हे भगवान् ! ये संसारके प्राणी अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार थोड़ेसे पदार्थोंको सत्यरूप जान कर अपने आपको पृथिवीका ज्ञाता मान बैठते हैं परन्तु चौदह राजु प्रमाण तीन लोक आपके ज्ञानके अन्तर्गत—प्रतिबिम्बित—होकर गोप्य के—गायके खुके—समान मालूम होते हैं ।

भावार्थ—यहां संसारी प्राणी तथा भगवान् महावीरके बीच व्यतिरेक बतलाया गया है—संसारी प्राणी अपने स्योपशमके अनुसार थोड़ेसे पदार्थोंको जानकर अपने आपको बहुशानी समझ कर हर्ष या मद करने लग जाते हैं परन्तु भगवान् महा-वीरका ज्ञान इतना विशाल है कि उसमें तीनों लोक गायके खुके समान अत्यन्त तुच्छ मालूम होते हैं । उनका केवलज्ञान यदि समुद्र है तो उसके सामने ये तीनों लोक गोप्य हैं—अत्यन्त अल्प हैं । इतने महान् ज्ञानी होनेपर भी उन्हें कुछ भी हर्ष या विषाद नहीं होता अतः वे सर्वथा पूज्य हैं ॥१०५॥

( श्लोकयमकः )

को विदो भवतोपीड्यः सुरानतनुतान्तरम् ।

शं सते साध्वसंसारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०६॥

कोवीति—कः किमोरूपम् । विदो ज्ञानाणि । भवतः स्वतः । अपि । ईदृ स्वाभी । यः यथोरूपम् । सुरान् अमरान् । अपि शब्दोऽत्र सम्बन्धनीयः सुरानपीति । अतनुत विस्तारयतिस्म । अन्तः धिते भवं आन्तरं आत्मोत्थम् । शं सुखम्, सते शोभनाय । साधु शोभनं । असंसारं सांसारिकं न भवति । सुष्ठु अमुद स्वमुत् विनष्टराग इत्यर्थः । यच्छ-ददत् । अपीडितं अवाधितम् । समुदागार्थः—हे वर्धमान भवतो नाम्बः ईदृ यः सुरानपि विदुः अतनुत सुखं आन्तरं साधु असंसारं

अपीक्षितं यच्छन् सते शोभनपुरुषाय स कोऽभ्यो भवतः स्वमुद ईद  
यावता हि न कश्चित् तस्मात् भवानेव सर्वज्ञः ॥१०६॥

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन् ! आपसे अतिरिक्त ऐसा कौन  
स्वामी है जो कि देवोंको भी ज्ञान सम्पादन करावे और भग्न  
पुरुषोंके लिये आत्मोत्थ, उत्कृष्ट तथा बाधारहित मोक्ष-सम्बन्धी  
सुखको देता हुआ भी स्वयं रागसे रहित हो ? हे नाथ ! ऐसे  
आप ही हो अतः आपको नमस्कार हो ।

भावार्थ—संसारके लोगोंने जिन्हें ईश्वर माना है वे स्वयं इतने  
अल्पज्ञानी थे कि उन्हें आगे-पीछेकी बातका ज्ञान लेना मुश्किल  
था । ऐसी परिस्थितिमें वे जन्मसे ही भक्ति, श्रुत, तथा  
अवधि ज्ञानके धारण करनेवाले देवोंको क्या ज्ञान देते ?  
परन्तु श्रीवर्धमानस्वामी इतने अधिष्ठ ज्ञानी थे कि वे दोनों  
लोक और दोनों काल-सम्बन्धी पदार्थोंको स्पष्ट जानते थे और  
इसी लिये देवोंको भी ज्ञान प्रदान करनेमें समर्थ थे । संसारके  
माने हुए ईश्वर यदि किसीको सुख प्राप्त करनेका उपदेश भी  
देते थे तो उससे प्राप्त होनेवाला सुख बाह्य, हीन, संसारको  
बढ़ानेवाला और बाधक कारणोंके मिलने पर लुप्त हो जाने  
वाला ही होता था । इतना होने पर भी वे अपनेको परम परोप-  
कारी समझ कर हर्षित होते थे परन्तु भगवान् वर्धमानके उप-  
देशसे लोगोंको जो सुख प्राप्त होता था वह उससे सर्वथा  
विपरीत था—आत्मीय, उत्कृष्ट, मोक्षसम्बन्धी और बाधारहित  
था । इतना होने पर भी वे रागसे रहित थे, उन्हें हर्ष-विषाद  
तथा अहंकार बगैरह कुछ भी नहीं होता था । इन विशेषताओं-  
को दृष्टिगत करके आचार्य समस्तभद्रने ठेक ही कहा है कि  
आपके सिष्याय आप जैसा और कौन ईश्वर है ? अर्थात् कोई  
भी नहीं है—आप अनुपम हैं ॥१०६॥

( अथवा )

कोविदो भवतोपीड्यः सुरान्त नुतान्तरम् ।

संसते साध्वसं सारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०७॥

कोविदेति—कोविदः विद्वत्पुङ्गवः । भवतः संसारात् । अपीड्यः  
अपीडितः । हे सुरान्त देवैः प्रणत । नुतान्तरं स्तुतिविशेषम् । संसते  
आचष्टे । साध्वसं सम्भ्रमम् । सारं फलवत् । एवं आत्मानं । उद्यच्छन्  
घटन् विभत् । ईदृशमपि पूजाविधानमपि । अथवा ईदृशं नुतान्तरं इति  
सम्बन्धः । समुदायार्थः—हे सुरान्त योऽयं कोविदो जनः भवादपीड्य  
सर्व नुतान्तरं संसते आचष्टे स्व साध्वसं सारं ईदृशमपि उद्यच्छन्  
यस्मात् तस्मादहं स्तुतिविशेषेण तुभ्यं नतः ॥१०७॥

अर्थ—हे देवचिन्त ! जिनेन्द्र ! जो बुद्धिमान् पुरुष आप-  
की स्तुति तथा पूजा-विधान करता है उसका आत्मा शीघ्र ही  
सफल हो जाता है और वह संसारके दुःखोंसे पीडित नहीं  
होता—जन्म-मरणके दुःख नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं भी तरह-तरहके स्तोत्रोंसे आपकी  
स्तुति कर रहा हूँ अतः मुझे भी मोक्षपुत्र प्रदान कीजिये ॥१०७॥

( समुदायकथमकः )

अभीत्यवर्द्धमानेन श्रेयोऋषेः जयन् ।

अभीत्या वर्धमानेन श्रेयोऋषेः संजयन् ॥१०८॥

अभीत्येति—अभीत्य मम जेतस्यागत्य । अथ रक्ष । कश्च वृद्ध ।  
मा अस्मदः इवस्तस्य रूपम् । अनेनः हे आपाप । श्रेया सुखं । ऋषेः

अभीत्य + अव + कश्च, मा + अनेनः, श्रेयः + ऋषेः ( रक्षा वर ),  
वर्धमान + इव, अयः + ऋषेः + उ ( वितर्क ) इति प्रत्ययानुसारेण । 'सूर्याश्चैव-  
सजास्ततः गुरवः सादृशविक्लीकितम्' ( वृत्तरत्नाकरे )

तेजसा महत् । संजयन् जगद्यन् । अभीत्या अभयेन दयया इत्यर्थः । हे वर्धमान जिनेन्दर । इन स्वामिन् । हे श्रेय सेव्य । उर्वो मवृत्ती गौर्वाही यस्यासौ उरुगुः एवं दिव्यवाणीकः एवं यतः । उ निपातः । संजयन् सम्भ-  
जयन् कुर्वन् । किमुक्तं भवति—हे वर्धमान इन अरु अभयेनः श्रेय उरु-  
गुस्त्वं यतः ततः अभीत्या अभयेन श्रेयः रुरुद संजयन् जगद्यन् जगत्त्र  
मा अत्र रक्त ॥१०८॥

अर्थ—हे वर्धमान जिनेन्द्र ! आप बृद्ध हैं—ज्ञानादिगुणोंसे बड़े हैं, केवलज्ञानके साथ होनेवाले अनन्तमुखको देनेवाले हैं, अभयसे—दयासे—उपलक्षित हैं, सबके स्वामी हैं, सेव्य हैं, उत्कृष्ट दिव्यध्वनिको धारण करनेवाले हैं और ( कर्मरूप शत्रुओंको ) जीतनेवाले हैं । हे श्रमो ! मेरे हृदयमें विराज-  
मान होकर मेरी रक्षा कीजिये ।

भावार्थ—यद्यपि बुलानेसे जिनेन्द्रदेव किसीके हृदयमें नहीं पहुँच जाते तथापि भक्तियोगमें ऐसा कहा जाता है ॥१०८॥

(द्वयचरवृत्तं शार्ङ्गखण्डिकोद्धितम्)

नानानन्तनुतान्त तान्तितनिनुन्नान्त नुन्नानुत

नूतनेग नितान्ततानितनुते नैतोन्नतानां ततः ।

नुन्नातीतितनूतिं नितनुतान्तीति निनूतातनु-

न्तान्तानीतिततान्नुतानन नतान्नो नूतनैनोत्तु नो ॥१०९॥

नानेति—श्रीवर्धमान इत्यनुवर्तते । नाना अनेकप्रकाराः । अनन्ताः  
अमूलाः अमेयाः नुताः स्तुताः अन्ता धर्माः यस्यासौ नानागन्धनुतायाः  
तस्य सम्बोधनं हे नानानन्तनुतान्त अनेकप्रकाराभेयस्तुतगुण इत्यर्थः ।  
तान्तं स्वेदं करोतीति 'तस्करोति तदाचष्टे इत्यादिना सूत्रेण विन्' ।  
तान्तिः 'अतः भावे कः इति क्तः' तान्तिर्तं भवति । तान्तिर्तं दुःखं  
निजुदति प्रेरयति इति तान्ति निजुम् तस्य सम्बोधनं हे तान्तिरनिजुम् ।

शुभः विनष्टः अन्तो विनाशो यस्यासौ शुभान्तः तस्य सम्बोधनं हे शुभान्त । शुभं विनाशितं अनृतं असत्यं यस्यासौ शुभानृतः तस्य सम्बोधनं हे शुभानृत विनष्टासत्य । नृतीनां स्तुतीनां इत्याः स्वामिनः नृतीनाः नृतीनामां इतः स्वामी नृतीनेनः तस्य सम्बोधनं हे नृतीनेन गणधरेन्द्रादिस्वामिन् । नितान्तं अत्यर्थं तानिता विस्तारिता नृतिः कीर्तिः स्तुतिर्वा यस्यासौ नितान्ततानितनृतिः तस्य सम्बोधनं हे नितान्ततानितनृते अत्यर्थविस्तारितकीर्ति । अथवा नृतीनेनेन गणधरेन्द्रेण नितान्ततानितनृते । नैसा नायकः । उद्यतानां इन्द्रादिप्रभूणां । ततः तस्मात् । तनुः शरीरं तनोरुदतिर्महत्त्वं तनूयतिः अतीतिर्विनाशः, अतीतिरयं तनूयतिरयं अतीतितनूयसी, जुम्ने विनाशिते अतीतितनूयसी यथा सा शुभातीतितनूयतिः तां शुभातीतितनूयतिम् । नितनुताम् कुप्ताम् । नीतिं बुद्धिं विज्ञानम् । अथवा शुभातीतितनूयतिं नितनुताम् नीतिं च । अशब्दोक्तोऽपि दृश्यः । निनृतं श्रुतं सुश्रुजितं अतनुं महतीं । तन्वात् दुःखितान् । ईतितान् व्याधिष्याह्वान् । हे नृतामनं नृतं श्रुतं आननं सुखं यस्यासौ नृतामनः तस्य सम्बोधनं हे नृतामन । नृताम् प्रयताम् । नः अस्मान् । नृतनं अभिनयं पनः पापं नृतनेनः । अतु मलयतु । नो प्रतिवेधे । किमुक्तं भवति—हे श्रीवर्धमान नामा- नन्तनुताम् यतः उन्नतानां नेता त्वं ततः नीतिं शुभातीतितनूयतिं अतनुं नितनुताम् नृताम् नः अस्मात् तान्वात् ईतितान् नो नितनुताम् नृत- नैमरुचं अतु मलयतु अन्धानि विशेषणानि भट्टारकस्य विशेष- णानि ॥१०६॥

अर्थ—हे श्रीवर्धमान ! अनेक भव्य जीवोंने आपके विविध गुणोंकी स्तुति की है, आप दुःखोंको नष्ट करनेवाले हैं, अन्त- रहित हैं, आपने एकान्तवादरूप असत्यको नष्ट कर दिया है, गणधरादि देवोंने आपकी कीर्तिको अत्यन्त विस्तृत किया है—आपके शासनका प्रचार कर आपका उज्ज्वल धरा सब ओर फैलाया है । आप इन्द्र आदि उत्तम पुरुषोंके नायक हैं, पूजित

हैं और आपका मुख भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। हे पूज्य ! हम लोग सांसारिक दुःखोंसे पीड़ित हैं, अनेक व्याधियोंसे घिरे हुए हैं और आपके चरणोंमें विनत हैं। आप हम लोगोंको वह केषल-ज्ञानरूप महाविद्या प्रदान कीजिये जो कि जन्ममरणको नष्ट करने-वाली है। इसके सिवाय हे प्रभो ! हमारे इन नये बँधनेवाले पापोंको भी नष्ट कर दीजिये अर्थात् संवर और निर्जराकी पूर्ण कला सिखलाकर हमें शीघ्र बन्धन-मुक्त कीजिये ॥१०६॥

( चक्रवृत्तम् )

वंदारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव  
वर्द्धिष्णो विलसद्गुणार्णव अगन्निर्वाणहेतो शिव ।  
वंदीभूतसमस्तदेव वरद प्रार्थैकदक्षस्तव  
वंदे त्वावनतो वरं भवमिदं वयैवकथामव ॥११०॥

१ 'पठरं चक्रमात्मिक्यारमध्ये स्थापयेत्कविः ।

त्रीन्पादान्नेमिमध्ये तु चतुर्थं चक्रवृत्तके ॥'

—२ संस्कारचिन्तामणिः ।

कुछ अरोंवाला एक चक्र बनाकर अरोंके बीचमें प्रारम्भके तीन पाद लिखने चाहिये, अवशिष्ट चौथापाद नेमि—चक्रभारा—अन्तिमपरिधिमें लिखना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र आये हुए चक्रोंकी रचना समझना चाहिये। इस अक्षंकारमें कभी-कभी सपना दृष्टतम—मनचहा—पाद गूढ़ भी हो जाता है अर्थात् उस पादके समस्त अक्षर शेषके तीन पादोंमें समाविष्ट हो जाते हैं; जैसा कि इस ग्रन्थके १११ और ११२ नं० के श्लोकोंमें हुआ है। कभी-कभी कविका नाम भी श्लोकके किसी पदमें आजाता है; जैसा कि ११६ नं० के श्लोकके बाहरसे भीतरकी ओर सातवें पदमें 'शान्तिवर्मकृत' आगया है। शान्तिवर्मों समस्तमङ्गका पूरक जन्मनाम है और जो उनके जपिय कुलोत्पन्न होनेका प्रोत्सुक है।



वन्देति—वन्दरं चक्रं भूमौ फलके वा व्यासिक्य त्रयः पादाः  
परमध्ये स्थाप्याः । अतुर्थपादो नेत्रिमध्ये एवं च सर्वचक्रकृतानि  
दृष्टव्यानि ।

वन्दारवः वन्दनशीला प्रबलं प्रचुरं आजर्जवलयः संसारः भयं भीः  
आजर्जवलाद्भयं आजर्जवलयभयं प्रबलं च तत् आजर्जवलयभयं च तत् प्रब-  
लाजर्जवलयभयं । वन्दारुणां प्रबलाजर्जवलयभयं वन्दारुप्रबलाजर्जवलयभयं ।  
तत् प्रध्वंसयति विनाशयतीत्येवंशीलं वन्दारुप्रबलाजर्जवलयभयप्रध्वंसि ।  
प्रसोभायः प्राभवम् । गोर्धायाः प्राभवं प्रभुत्वं गोप्राभवं वासीमाहृत्य  
स्थित्यर्थः । वन्दारुप्रबलाजर्जवलयभयप्रध्वंसि गोप्राभवं यस्यासौ वन्दारु-  
प्रबलाजर्जवलयभयप्रध्वंसिगोप्राभवः तस्य सम्बोधनं वन्दारुप्रबलाजर्जव-  
लयभयप्रध्वंसिगोप्राभव । वक्षिष्यो वक्ष्मणीक । गुण्य एव अर्थावो गुण्यार्थः  
विलसन् शोभमानो गुण्यार्थो गुण्यसमुद्रो यस्यासौ विलसद्गुण्यार्थः  
तस्य सम्बोधनं विलसद्गुण्यार्थः । निर्वाणस्य मोक्षस्य हेतुः कारणं निर्वा-  
णहेतुः । जगतां भव्यलोकानां निर्वाणहेतुः जगन्निर्वाणहेतुः । तस्य  
सम्बोधनं हे जगन्निर्वाणहेतो । शिव परमात्मन् वन्दोभूताः मङ्गलपाठकी-  
भूताः समस्ताः देवाः विश्वे सुरवराः यस्यासौ वन्दोभूतसमस्तदेवः तस्य  
सम्बोधनं हे वन्दोभूतसमस्तदेव । वरद इष्टद । प्राज्ञानां भक्तिभवा एकः  
प्रधानः प्राज्ञैकः । वृक्षाणां विधिवृक्षानां स्वयः स्तुतिवचनं यस्यासौ दक्ष-  
स्वयः अथवा दक्षैः स्तुयते इति दक्षस्वयः प्राज्ञैकरचाली दक्ष-  
स्वयस्व प्राज्ञैकदक्षस्वयः तस्य सम्बोधनं प्राज्ञैकदक्षस्वय । वन्दे स्तुवे ।  
एवा भवन्तस् । अवन्तः प्रवन्तः । वरं श्रेष्ठम् । मन्त्रित्वं संसारस्य भेद-  
कम् । हे वरं शोभन । एकः वन्दः एकवन्दः तस्य सम्बोधनं हे एकवन्द ।  
संसारित्वेन न भवति इत्यभयः तस्य सम्बोधनं हे अभय । एतदुक्तं  
भवति—हे वन्दमान भद्रावक ! सम्बोधनानि सर्वाणि धिक्स्थानि  
कल्पैव भवन्ति । वन्दे अथनवो भूत्वाऽहं एवा किं विशिष्टं वरं  
कल्पयिष्ये इति ॥११०॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो आपको तमस्कार करते हैं

उनका संसार-सम्बन्धी प्रचुरभय आपकी दिव्यध्वनिके माहा-  
त्म्यसे नष्ट होजाता है। आप ज्ञानादिगुणोंसे हमेशा बढ़ते ही  
रहते हो, अपना गुणरूपी समुद्र बड़ा सुन्दर है। आप संसारी  
जीवोंकी मुक्तिके कारण हो, कल्याणरूप हो। समस्तदेव आप-  
के बंदी हैं-चारण हैं-सदा ही आपका गुणगान किया करते हैं।  
आप मनोवांछित वरोंको देनेवाले हो। भ्रष्टज्ञानी हो, बड़े बड़े  
चतुर मनुष्य आशका स्तवन किया करते हैं, आप सर्वोत्कृष्ट हो,  
संसारपरिभ्रमणको नष्ट करनेवाले हो, पूज्य हो, वन्दनीय हो  
और पञ्च-परायर्त्तनरूप संसारसे रहित हो। हे प्रभो ! भक्ति-  
से प्रसूत होता हुआ मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ ॥११०॥

(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्<sup>१</sup>)

नष्टाज्ञान मलो न शासनगुरो नम्रंजनं पानिन

नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन् मासन ।

नत्येकेन रुजोन सज्जनपते नन्दन्नननन्तावन

नन्तून् हानविहीनधामनयनो न स्ताप्युनन् सज्जिन ॥१११॥

नेष्टुति—नष्टं चिन्तं अज्ञानं यस्यासौ नष्टाज्ञानः तस्य सम्बोधनं  
हे नष्टाज्ञान । मलो न कर्मणा क्लमः रहितः मलोनः तस्य सम्बोधनं हे  
मलोन । शासनस्य दर्शनस्य आज्ञाया वा गुरुः स्वामी आसनगुरुः तस्य  
सम्बोधनं हे शासनगुरो । नम्रं नमनशीलम् । जनं भग्नलोकम् । पान्  
रक्तम् । इ न स्वामिन् । नष्टं चिन्तं ग्लानं मूर्च्छादिकं यस्यासौ नष्टग्लानः  
तस्य सम्बोधनं हे नष्टग्लान । शोभनं मानं विज्ञानं यास्यासौ सुमानः  
तस्य सम्बोधनं हे सुमान । पावन पवित्र । रिपुपि शत्रुः शत्रून्प्यालु-  
नन् आ समन्तात् शत्रून्प्यन । मासन शोभन । नतीनां प्रयातीना एकः

१ इष्टः पादो वलयरूपो भवतीत्यर्थः । इतमें मनोनीत पाद वलय-  
में लिखा जा सकता है ।

प्रधानः इमः स्वामी नस्यैकेनः तस्य सम्बोधनं हे नस्यैकेन । राज्या  
 रोगेभ्य ऊनः रुघोनः तस्य सम्बोधनं हे रुघेन । सज्जनानां पतिः  
 सज्जनपतिः तस्य सम्बोधनं हे सज्जनपते । नन्दन् आनन्दं कुर्वन् ।  
 अमग्न अधिनाश । अक्षय रक्षक । नन्दन् स्तोत्रम् । इत्येनं चयेश  
 विहीनं ऊनं हानविहीनं धाम तेजः हानविहीनं च तत् धाम च शान-  
 विहीनधाम, हानविहीनधामैव नयनं यस्यासौ हानविहीनधामनयनः स्वम् ।  
 नः अस्मान् । स्तात् भव । पुनर् पवित्रीकुर्वन् । हे सज्जन  
 शोभनविन । पृथगुक्तं भवति—हे भट्टारक नष्टाज्ञान नष्टं ज्ञानं पात्  
 रिपूनस्यालुनम् नन्दन् नन्दन् नः अस्मान् पुनर् हानविहीनधामनयनस्त्वं  
 स्तात् । शेषाणि सर्वाणि सम्बोधनानि पदानि अस्यैव विशेष्यानि  
 भवन्तीति ॥११॥

अर्थ—भगवन् ! आपका अज्ञान नष्ट हो गया है, आप  
 कर्मफलसे रहित हैं, जैनशासन अथवा अप्रतिहत आज्ञाके  
 स्वामी हैं, मूच्छादिक परिग्रहसे रहित हैं । आपका ज्ञान अत्यन्त  
 शोभायमान है, आप अत्यन्त पवित्र हैं, प्रकाशमान हैं, नमस्कार-  
 के मुख्य स्वामी हैं—इन्द्रादि सब प्रधान पुरुष आपको ही नम-  
 स्कार करते हैं । आप रोगरहित हैं, सज्जनोंके अधिपति  
 हैं, अन्तरहित हैं, रक्षक हैं, अथवा अनन्त प्राणियोंके  
 रक्षक हैं और उत्तम जिनेन्द्र हैं । हे प्रभो ! आप नष्ट  
 मनुष्योंकी रक्षा करते हुए, काम-क्रोध आदि अन्तरङ्ग  
 शत्रुओंको नष्ट करते हुए, नमस्कार करनेवालोंको समृद्ध-  
 सत्पन्न करते हुए और मुझ संमन्तभद्रको पवित्र—राग-  
 द्वेषसे रहित—करते हुए चिरकाल तक हानिविहीन केवल-  
 ज्ञान-लोचनसे युक्त तिष्ठें ॥११॥

( इष्टपादवलयमयमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम् )

रम्यापारगुणाजस्तुरवरैरचर्याक्षर श्रीधर

रत्नूनारतिदूर भासुर सुगीरव्योत्तर्द्धीश्वर ।

रक्तान् कूरकठोरदुर्द्धररुजोरक्षन् शरण्याजर

रक्षाधीर सुधीर विद्वर गुरो रक्तं चिरं मा स्थिर ॥ ११२ ॥

रम्येति—इष्टपादो वलयरूपेण भवतीत्यर्थः । रम्य रमणीय । अपारगुण अपरिमेयगुण । अरजः ज्ञानावरणादिकर्मरहित । तुरवरैः देवप्रधानैः । अचर्यं पूज्य । अक्षर अनक्षर । श्रीधर लक्ष्मीभृत् । रम्या रानेण कन रहित । अरतेदूरः विप्रकृष्टः अपरविद्वर तस्य सम्बोधनं हे अपरविद्वर । भासुर भास्वर । शोभना गोर्वाक्षो यस्यासौ सुगोः स्वमिति सम्बन्धः । अर्यं स्वामिन् । उत्तराः प्रकृष्टाः अक्षयो विभूतयः उत्तरार्द्धयः उत्तरार्द्धिनां ईश्वरः स्वामी उत्तरार्द्धीश्वरः तस्य सम्बोधनं हे उत्तरार्द्धीश्वर । रक्तान् भक्तान् । कूर रौद्रः, कठोरा निष्ठुरा, दुर्द्धरा असह्य, रक्तं व्याधिः, कूरं चासौ कठोरा च कूरकठोरा, कूरकठोरा चासौ दुर्द्धरा च कूरकठोरदुर्द्धरा, कूरकठोरदुर्द्धरा चासौ रक्तं च कूरकठोरदुर्द्धरं तस्याः रक्तं प्रतिपादयन् । शरण्या शरणीय । अक्षर जनाहीन । रक्तं पादय । आभिर्मनः पीडा आदि हरति क्षिपतीत्याधीरः तस्य सम्बोधनं हे आधीर । सुधीर असोभ । विद्वं पण्डितानां वरः प्रधानः विद्वरः तस्य सम्बोधनं हे विद्वर । गुरो स्वामिन् । रक्तं भक्तम् । चिरं अचर्यम् । मां अस्मद्ः प्रयोगः । विद्वर नित्य । एतदुक्तं भवति—हे अक्षरक रम्य इत्यादि गुणविरहित कूरकठोरदुर्द्धररुजो रक्तान् रक्तं मा रक्तं रक्त ॥ ११२ ॥

अर्थ—हे अत्यन्त सुन्दर ! हे अनन्तगुणोंके धारक ! हे ज्ञानवरणादि-कर्मसमूहसे रहित ! हे इन्द्रोंके द्वारा पूज्य ! हे अविनाशो ! हे समवसरणादि लक्ष्मीके धारक ! हे रागरहित ! हे द्वेषसे दूर रहनेवाले ! हे शोभायमान ! हे उत्तम वाणीके

धारक ! हे स्वामिन् ! हे श्रेष्ठ ऋद्धियोंके नाथक ! हे रक्षक !  
 हे जरारहित ! हे भानसिक व्यथाओंको हरनेवाले ! हे क्षोभ-  
 रहित ! हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ ! हे गुरो ! हे नित्य ! श्रीवर्द्धमान  
 जिनेन्द्र ! आप अपने भक्त जनोंको भयंकर निष्ठुर और दुर्धर-  
 कष्टसाध्य रोगोंसे रक्षित करते हुए सुख चिरस्नेही (समन्तभद्र)  
 की भी रक्षा कीजिये ॥११२॥

### उपसंहार

( अक्षरानुसूचम् )

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव' शिरस्तद्यत्नतं ते पदे  
 जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।  
 मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते ।  
 ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥११३॥

प्रज्ञेति—प्रज्ञा बुद्धिः । सा तवः प्रयोगः । स्मरति चिन्तयति ।  
 इति शब्दः अवधारणार्थः । या यदः यवन्तस्य रूपम् । तव ते 'स्मृत्य-  
 र्थादेशां कर्मणीति सा भवति' । शिरः मस्तकम् । तव यत् । यत् प्रय-  
 त्नम् । ते तव । पदे चरणे । जन्म गत्यन्तरगमनम् । अत्रः अदसः अप-  
 रोक्षवाधिभो रूपम् एषदित्यर्थः । सफलं सकार्यम् । परं श्रेष्ठम् । भव-  
 भिदो संसारभेदिनी । यत्र यस्मिन् । आश्रिते सेविते । ते सव । पदे चर-  
 नयुगलम् । मांगल्यं पूतं । च शब्दः समुच्चयार्थः । सः तदो रूपम् ।  
 यः यदो रूपम् । रतः रक्तः अक्तः । तव ते । मते आगमे । गीः वाक् ।  
 सैव सा एव नाम्ना । या त्वा भवन्तम् । स्तुते वन्दते । ते तवः असन्तं

रूपम् । ज्ञाः पवित्रताः । ये यतो जसन्तं रूपम् । प्रकृताः प्रकृष्येण  
नताः । अन्तः भक्तमन्यस्रोकाः । क्रमयुगे चरणद्वन्द्वे । देवानामधिदेवः  
परमात्मा देवाधिदेवः तस्य देवाधिदेवस्य । ते तव । स्तुत्यवसाने कृत-  
कृत्यः सन् आचार्यः समस्तमहस्वामी उपसंहारकं करोति । किमुक्तं  
भवति—भट्टारक सैव प्रज्ञा या स्वा स्मरति । शिरश्च सदेव यमन्तं ते  
पदे इत्येवमादि मोक्षम् ॥११३॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! बुद्धि वही है जो कि आपका स्मरण  
करे—आपका ध्यानकरे, मस्तक वही है जो कि आपके चरणोंमें  
नत रहे—झुका रहे, जन्म वही सफल और श्रेष्ठ है जिसमें  
संसार परिभ्रमणको नष्ट करनेवाले आपके चरणोंका आश्रय  
लियागया हो, पवित्र वही है जो कि आपके मतमें अनुरक्त हो,  
बाणी वही है जो कि आपकी स्तुति करे, और बुद्धिमान-  
पंडितजन वे ही हैं जो कि आपके दोनों चरणोंमें नत हैं ।

[ यहां परिसंख्याऽलंकार<sup>१</sup> है ]

( चकवृत्तम् )

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते  
हस्तावजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।  
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदशी येन ते  
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

सुश्रद्धेति—सुश्रद्धा मुखाधिः । मम अस्मद्ः पक्षेणः । ते तव ।

१ सर्वत्र संभवस्तु यत्रैकं युगपत्पुनः ।

एकत्रैव निश्चयेन परिसंख्या तु सा यथा ॥

— अलंकारचिन्तामणि ।

सर्वत्र (सबमें) संभव होनेवाली वस्तुका किसी एकमें हो नियम  
करके परिसंख्या अलंकार कहलाता है ।

मते विषये । एतदतिरपि स्मरयामहि । त्वयि युष्मदः ईवन्तस्य रूपम् ।  
 अर्चनं चापि पूजनं चापि त्वय्येवेति सम्बन्धः । च शब्दः समुच्चयार्थः ।  
 ते तव । हस्तौ करौ । अञ्जलये अञ्जलिनिमित्तं ते इत्यनेन सम्बन्धः ।  
 कथा गुणस्तवनम् । कथायाः श्रुतिः श्रवणं कथाश्रुतिः । तस्यां रतः  
 रक्तः कथाश्रुतिरतः । कथाः श्रवणम् । अघि चक्षुः । सम्प्रेक्षते संपश्य-  
 ति ते रूपमिति सम्बन्धः सामर्प्याह्वयते । सुस्तुत्यां शोभनस्तवने ।  
 व्यसनं तत्परत्वम् । शिरः सरतकम् । नतिपरं प्रणामतत्परम् । सेवा  
 सेवनम् । ईदृशी ईदृग्भूता । प्रत्यक्षचक्षुर्मेतत् । येन यदो भान्तस्य रूपं  
 येन कारणेनेत्यर्थः । ते तव । तेजस्वी भास्वान् । सुजनः शोभनजनः । अहं  
 अस्मदो वाप्तस्य रूपम् । एष अवधारणार्थः । अहमेव नाऽन्यः । सुकृती  
 पुण्यवान् । तेनैव तदो भान्तस्य रूपं । तेनैव कारणेनेत्यर्थः । हे तेजः-  
 पते केवलज्ञानस्वामिन् । समुदायार्थः—मम अक्षा वा मम स्मृतिश्च वा  
 सा तदैव मते, समार्चनमपि यत्तत् त्वय्येव, मम हस्तौ यौ त्वत्प्रणामा-  
 ञ्जलिनिमित्तम्, कथाश्च मम ते कथाश्रुतिरतः, अघि च मम तव रूप-  
 दर्शननिमित्तम्, मम व्यसनमपि तव स्तुत्याम्, शिरश्च मम तव  
 नतिपरम् । येन कारणेन ईदृशी सेवा मम हे तेजःपते तेनैव कारणेन अह-  
 मेव तेजस्वी सुजनः सुकृती नान्य इत्युक्तं भवति ॥११३॥

अर्थ—हे भगवन् ! मेरी अक्षा केवल आपके ही मतमें हैं,  
 मैं स्मरण भी आपका हो करता हूँ, पूजन भी आपका ही करता  
 हूँ, मेरे हाथ भी आपको अञ्जलि बांधने ( हाथ जोड़ने ) के  
 लिये ही हैं, मेरे कान भी आपकी कथा सुननेमें आसक्त हैं,  
 मेरी आँखें केवल आपके रूपको देखती हैं—आपके दर्शन करती  
 हैं, मुझे व्यसन आपकी स्तुति करनेका ही है—मैं हमेशा आपकी  
 स्तुतिमें ही लगा रहता हूँ—और मेरा भक्त भी आपको नमस्कार  
 करनेमें तत्पर रहता है । हे तेजःपते !—हे केवलज्ञानके स्वामी !  
 इस तरह मैं आपकी सेवा करता हूँ इसीलिये संसारमें  
 मैं तेजस्वी सुजन और पुण्यवान् ही हूँ ।

भावार्थ—जिनेन्द्रकी आराधना करनेवाले मनुष्यकी आत्मा आत्मीय क्षेत्रसे जगमगा उठती है, वह सर्वोत्कृष्ट पुरुष गिना जाने लगता है तथा उसके महान् पुण्यका बन्ध होता है। यहां आचार्य समन्तभद्रने भगवान्की आराधना कर अपने आपको उसके फलका अधिकारी बतलाया है। यहां परिसंख्याके साथ 'काव्यलिङ्ग' अलंकार भी है ॥११४॥

( चक्रभूतम् )

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेनौः पदे ।  
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ।  
चन्द्रीभूतवतोपि<sup>१</sup> नोन्नतिहतिर्नन्तुरश्च येषां मुदा ।  
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥११५॥

जन्मेति—जन्म संसारः, अरण्य अटवी, शिखी अग्निः, जन्मैवा-  
रण्यं जन्मारण्यम्, जन्मारण्यस्य शिखी जन्मारण्यशिखी । स्तवः गुणस्त-  
वनम् । स्मृतिरपि स्मरणमपि । क्लेशाम्बुधेः दुःखसमुद्रस्य नौः पावः ।  
पदे पादौ । भक्तानामनुत्कानां । परमौ श्रेष्ठौ । निधी अव्यनिधाने ।  
प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम् । सर्वार्थानां सकलकार्याणां सिद्धिः निष्पत्तिः  
सर्वार्थसिद्धिः । परा प्रकृष्टा । चन्द्रीभूतवतोपि मंगलपादकीभूतवतोपि  
नग्नआचार्यरूपेण भवतोपि<sup>२</sup> ममेत्यर्थः । न प्रतिषेधवचनम् । उन्नतेः  
माहात्म्यस्य हतिः हननं उन्नतिहतिः । नन्तुरश्च स्तोत्रश्च । येषां यद् :

१ 'हेतोर्भाष्यपदार्थस्यैकाग्र्यनिर्णयार्थे' — साहित्यदर्पण  
जहां हेतु वाक्य अथवा पदार्थगत होता है उसे 'काव्यलिङ्ग'  
कहते हैं ।

२ ममेति योजनीयम् ।

३ जयमानस्यापि मम ।



आमन्तस्य रूपम् । मुदा हर्षेण । दातारो दानशीलाः । जयोस्ति येषां ते जयिनः । भवन्तु सन्तु । परं दत्त इति वरदाः स्वैष्टदायिनः । देवानां सुराणां ईश्वराः स्वामिनः देवेश्वराः । ते तदो जसन्तस्य रूपम् । सदा सर्वकालम् । पुनरुक्तं भवति—येषां स्तवः जन्मास्त्ययशस्वी भवति, येषां स्मृतिरपि क्लेशास्तुषेरच नो भवति, येषां च पदे भक्तानां परमौ निधो भवतः, येषां च प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा, येषां नमस्तुदा बन्दीभूत-घतोपि मोक्षतिइति, ते देवेश्वराः दातारः जयिनः वरदाः भवन्तु सदा सर्वकालम् ॥११२॥

अर्थ—जिनका स्तवन संसाररूप अटवीको नष्ट करनेके लिये आग्निके समान है, जिनका स्मरण दुःखरूप समुद्रसे पार होनेके लिये नौकाके समान है, जिनके चरण भक्त पुरुषोंके लिये उत्कृष्ट निधान-खजानेके समान हैं, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति—प्रतिमा—सब कार्योंकी सिद्धि करने वाली है और जिन्हें हर्ष-पूर्वक प्रणाम करनेवाले एवं जिनका मङ्गलगान करनेवाले—भगवाचार्यरूपसे (पक्षमें स्तुतिपाठक-चारण-रूपसे) रहते हुए भी मुक्त-समन्तभद्रकी उन्नतिमें कुछ बाधा नहीं होती वे देवोंके देव जिनेन्द्र भगवान्, दानशील, कर्मशत्रुओंपर विजय पानेवाले और सबके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हों ।

भावार्थ—यहां पूर्वार्थके दो चरणोंमें रूपकालंकार है परन्तु तृतीय चरणमें विरोधालंकार प्रदर्शित किया गया है । वह इस प्रकार है—‘जो किसीका बन्दी स्तुतिपाठक या चारण होकर उसे नमस्कार तथा उसका गुणगान करता है वह लोकमें बहुत ही खबनत कहलाता है परन्तु श्रीजिनेन्द्रदेवकी स्तुतिकरने—उनका बन्दी-चारण बननेपर भी आचार्य समन्तभद्रकी महत्ता नष्ट नहीं हुई, बल्कि सातिशय पुण्य बन्धकर उन्होंने पहलेसे भी अधिक उत्कृष्टताको प्राप्त किया ।’ विरोधका परिहार यही है कि ‘महापुरुषोंके संसर्गसे सब विरोध दूर हो जाते हैं ॥११५॥

( कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तम् १ )

गत्वेकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते  
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ।  
यद्भवत्या शमिताकृशाधमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये<sup>१</sup>  
ये सद्भोगकदायतीव<sup>२</sup> यजते<sup>३</sup> ते मे जिनाः सुभिये ॥११६॥

गत्वेति—घट्टरं नववज्रयं चक्रमाजित्य सप्तमवज्रये शान्तिवर्म-  
कृतं इति भवति । चतुर्थवज्रये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अतः  
कवि-काव्यनामगर्भचक्रवृत्तं भवति ।

गत्वा यात्वा । एकः प्रधानः, स्तुतः पूज्यः, एकरचासौ स्तुतरश्च  
एकस्तुतः तं एकस्तुतम् । एचकारोवधारणार्थः । वासं मोक्षस्थानम् ।  
अधुना साम्प्रतम् । तं तद् इवन्तस्य रूपम् । ये यदो जलन्तस्य रूपम् ।  
अच्युतं अच्यम् । स्वीशते सुप्रेतर्यं कुर्वते । येषां नतिः स्तुतिः यन्नतिः  
तथा यन्नत्या । एति आगच्छति । सुशर्म अमन्त्रसुखम् । पूर्णं सम्पूर्णम् ।  
अधिकां महतीं प्रधानां । शान्तिं शमनम् । व्रजित्वा गत्वा । अध्वना  
जस्यदर्शनज्ञानचारित्रमार्गेण । येषां भक्तिः सेवा यद्भक्तिः तथा यद्-  
भवत्या । शमितं शान्तं नष्टं अकृषायं, अकृशं महत् अघं पापं, अकृशं  
च तदर्थं च अकृषायं, शमितं च तत् अकृषायं च शमिताकृषायम् क्रिया-

१ बहु शरीं तथा नव वज्रयोसे युक्त चक्राकार रचना बनाकर उसमें  
श्लोकको पूर्वोक्त विधिसे लिखना चाहिये । इस श्लोकके सातवें वज्रयमें  
'शान्तिवर्मकृतं' और चौथे वज्रयमें 'जिनस्तुतिशतं' निकलता है ।  
अतः यह श्लोक 'कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्त' कहलाता है ।

२ 'सु + आलये' 'स्त्र + आलये' इति वा सन्धिः ।

३ 'सद्भोगकदाः + अतीव' इति सन्धिः ।

४ यजते इति शयन्तस्य यजधातोश्चतुर्थ्या रूपम् । पूजकाये-  
त्यर्थः । 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इति यजधातोश्चतुर्थ्याः ।

विशेषणमेतत् । रुजा रोगः न विद्यते रुजा यस्मिन् तत् अरुजम् ।  
 तिष्ठेद् आस्थेय । जनः भद्रलोकः । स्वास्थये शोभनस्थाने । ये भद्रो  
 जसन्तस्य रूपम् । भोगः सुखायं सन् शोभनो भोगः सद्भोगः सद्-  
 भोग एव सद्भोगकः तं सद्भोगकं इदं इति सद्भोगकदाः शोभन-  
 भोगदातारः इत्यर्थः । अतीव अत्यर्थम् । यजते पूजकाय यज वैष्णवा-  
 संगतिकरणादानेषु इत्यस्य भोः शत्रन्तस्य रूपम् । ते सद्भो जसन्तस्य  
 रूपं परोक्षवाचि । मे मम । जिनाः श्रोमदर्हन्तः । शोभना श्रीः सुधीः  
 तस्यै सुश्रिये । भवन्तिवर्थाह्वार्यम् । किमुक्तं भवति—एवंगुण-  
 विशिष्टाः जिनाः ते मे भवन्तु सुश्रिये मोक्षयेत्यर्थः ॥११॥

अर्थ—जो इस समय परम पूज्य और विनाशरहित मोक्ष-  
 स्थानको पाकर परमप्रेमार्थका अनुभव कर रहे हैं, जिनको नम-  
 स्कार करने मात्रसे पूर्ण-अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है, जिनकी  
 भक्तिसे यह जीव अधिक शान्तिको पाकर सम्यग्दर्शन सम्य-  
 ग्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप मार्गके द्वारा स्वालयमें—उत्तम  
 आलय अथवा आत्मआलयमोक्ष-मन्दिरमें—जाकर निवास  
 करता है और इसके बड़ेसे बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं तथा  
 सब रोग दूर हो जाते हैं । और जो अपने पूजकों—भक्तोंके  
 लिये उत्तम भोग प्रधान करते हैं वे देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान्  
 मेरे—समस्तभद्रके—लिये भी मोक्षरूप लक्ष्मी प्रदान करें । अर्थात्  
 मेरी मुक्तिभीकी प्राप्तिमें प्रधान सहायक बनें ।

इति कवि-गमक-वादि-वागिमख-गुणालंकृतस्य श्रीसमन्तभद्रस्य  
 कृतिसिन्धु स्तुतिविद्या जिनशताब्दकारापरनाम समाप्त ।

## स्तुतिविद्याके पद्योंका वर्णानुक्रम

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
अतमः स्वततारक्षी	२७	ग्लानं चैनश्च नः स्येन	११२
अपराग समाश्रेयम्	५६	चक्रपाणेर्दिशामूढा	८०
अपराग समाश्रेयम्	५६	बद्धप्रभो दयोजेयो	३७
अपापापदमेवभी-	३४	चारुश्रीशुभधौ नौमि	४५
अभिषिक्तः सुरैर्लोकै-	५७	चार्वस्यैव क्रमेजस्य	५८
अभीत्यवदन् मनेनः	१२८	जन्मारण्यशिखी स्तवः	१३६
अषिवैको न वा जातु	५४	जयतस्तव पार्श्वस्य	१२०
आलोक्य चारु लावण्यं	५५	ततोतितातु तेतीत-	१६
आसते सततं ये च	७	ततोमृतिमतामीमं	६१
आस यो नतजातीयार्थि	१११	तनुतारसद्यशोमेय	११६
एतच्चित्रं क्षितेरेव	५०	तमोस्तु ममतातीत	१२१
एतच्चित्रं पुरो धीर	७४	तावदास्य त्वमारूढो	६२
काममेत्य जगत्सारं	५१	तिरीद्वटनिष्ठायुतं	७६
कुत एतो नु सन्वयो	७८	त्रयोलोकः स्थिताः स्वैर	८४
कुन्धवे सुमृजायते	१०१	त्रिलोकीमन्त्रशास्त्रं	८१
केवलाङ्गसमाश्लेष-	८२	त्वमवाध दमेनर्द्ध	६७
को विदो भवतोपीड्यः	१२६	दिव्यैर्व्यनिसितच्छत्र-	१०
कोविदो भवतोपीड्यः	१२८	देहिनो जयितः श्रेयः	३२
क्रमतामकर्म ह्येव	६०	धाम त्विषां तिरोधान-	४१
द्वलोलूकस्य गोप्रात-	४३	धाम स्वयं ममेयात्मा	२
गत्वंकस्तुतमेव	१४१	धिया ये भित्तयेतार्था	६
गायतो महिमायते	९१	धीमत्सुचन्दमान्धाव	१२२

न चेनो न च रागादि-	२५	भवत्येव धरा माभ्या	७३
नतपाल महाराज	६८	भासते विमुताऽस्तोना	१५
नतपीलासनाशोक	६	मानसादर्शसंक्रान्तं	६६
नतयात विदामीश	१०३	मानोनामनूनानां	११६
नन्दनश्रीजित स्वा न	३०	यतः कोपि गुणानुक्त्या	६६
नन्दनं त्वाप्यनष्टो न	३१	यतः श्रितोपि कान्ताभि-	१३
नष्टनन्तद्वयं नन्तेन	२८	यत्तु खेदकरं ध्वान्तं	४२
नमेमान नमामेन-	११४	यमराज विनम्रेण	१०७
न मे मामनमामेन	११५	येयायायाययेयाय	२०
नयमानक्षमामान	६३	यो लोके स्वा नतः सोति-	१०१
नय मा स्वर्य वामेश	१०६	रक्षमाक्षर वामेश	१०७
नयसत्त्वर्तवः सर्वे	८६	रम्याशरगुणारज-	१३५
नर्दयामर्त्तवागोथ	११७	रुचं विभर्त्तिना धीरं	७०
नष्टाक्षान मलोन	१३३	रोग-पात-विनाशाय	६५
नागसे त इनाजेय	३४	रोगपात-विनाशाय	६६
नानानन्तनुतान्त	१२६	लोकत्रयमहामेय-	४५
नुष्ठातुतोन्नतानन्त	६५	लोकस्य घोर ते वाढं	४६
नेतानतनुते नेनो-	६२	वरधौरतनुं देव	३३
परान्पातुस्तवाधीशो	८५	वर्णभार्यातिनन्दाव	६५
पारावाररवारापा-	१०३	वर्धारुप्रबलाज्जर्जव-	१३१
पावनाजितगोलेजो	११३	वन्दे चारुहृत्वां देव	३५
पूतस्वनवमाचारं	२५	वामदेव क्षमाजेय	१२३
प्रकाशयन् क्षमुदभूतः	३६	विश्वमेको रुचामाको	१४
प्रज्ञायां तन्मृतं गत्वा	१२५	वीरं मा रक्ष रक्षार	११०
प्रज्ञा सा स्मरतीतिचा	१३६	वीरावारर वारावी	१०६
प्रयत्येभान् स्वबाध्वश्मि	६७	शंसनाय कनिष्ठाया-	४६
प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां	७१	शं स नायक निष्ठाया-	४७

शोकक्षयकृदव्याधे	४८	स्तुयाने कोपने चैव	३६
भितः श्रेयोध्युदासीने	१५	स्नात स्वमत्तगम्भीरं	५
श्रीमज्जिनपदाभ्याशं	२	स्वचित्तपदयालिख्य	१२२
सदक्षराऽजराऽजित	२३	स्वयं शमयितुं नाशं	१७
सदक्ष-राज-राजितं	२४	स्वयं शमयितुं नाऽशं	१७
समस्तपतिभावस्ते	८८	स्वसमान समानन्धा	६८
समस्तवस्तुमानाय	१२४	हृत्तमीः स्वय मेध्याशु	११८
सिद्धस्त्वमिह संस्थानं	६६	हरतीव्याहिता तान्तिं	५३
सुभद्रा मम ते मते	१३७	हृदि येन धृतोसीनः	७६



## परिशिष्ट

यहाँ काव्य-चित्रोंके कुछ उदाहरण अपने-अपने काव्यके साथ दिये जाते हैं, जिससे उनके विषयका यथेष्ट परिज्ञान हो सके। साथमें चित्रोंका ठीक परिचय प्राप्त करनेके लिये जरूरी सूचनाएँ भी दी जा रही हैं। इन सबको देनेसे पहले चित्रालङ्कार-सम्बन्धी कतिपय सामान्य नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे किसी प्रकारके भ्रमको अथवा चित्रभङ्गकी कल्पनाको कहीं कोई अवकाश न रहे।

चित्रालङ्कारोंके सामान्य नियम—

(१) “नाऽनुस्वार-विसर्गौ च चित्रमङ्गाय संमतौ ।”

‘अनुस्वार और विसर्गका अन्तर होनेसे चित्रालङ्कार भंग नहीं होता।’

(२) “यमकादौ भवेदैक्यं ढलो रलो र्वबोस्तथा ।”

‘यमकादि अलङ्कारोंमें ढ-ल, र-ल और व-ब में अभेद होता है।’

(३) यमकादि चित्रालङ्कारोंमें कहीं कहीं श-ष और न-ण में भी अभेद होता है, जैसा कि निम्न संग्रह श्लोकसे जाना जाता है—

“यमकादौ भवेदैक्यं ढलयो रलयोर्वबोः ।

शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाऽविसर्गयोः

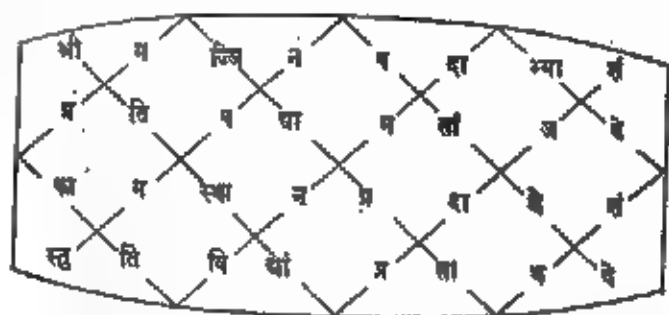
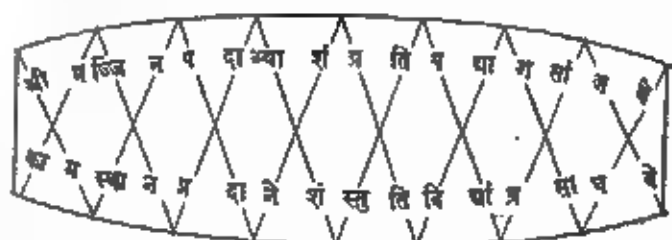
सविन्दुकाऽविन्दुकयोः स्यादभेद-प्रकल्पनम् ॥”

कान्य-चित्रोंके कुछ उदाहरण—

(१) मुरजबन्धः

श्रीमद्भिनपदाभ्याशं प्रतिपद्यागसां जये ।

कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥१॥



ये सामान्य मुरजबन्धके दो चित्र हैं । इनमें पूर्वार्धके वि-  
धमसंख्याङ्क (१, २, ४, ७, ६, ११, १३, १५) अक्षरोंको उत्तरार्ध-  
के समसंख्याङ्क (२, ४, ६, ८, १, १२, १४, १६) अक्षरोंके साथ  
क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे श्लोकका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विधम-  
संख्याङ्क अक्षरोंको पूर्वार्धके सम संख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः



मिलाकर पढ़नेसे उत्तरार्ध बन जाता है। इसप्रकारके अन्य श्लोक ग्रन्थमें निम्नप्रकार हैं :—

२०, ६, ७, ८, ९, ११, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१, ४२, ४५, ४६, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ८६, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५।

(२) अर्धभ्रमः

धिया ये श्रितयेतात्या यातुपायान्वरानताः।

येषापा यातपारा ये श्रियायातानतन्वत ॥३॥

१	धि	या	ये	श्रि	त	ये	ता	त्या	८
२	या	तु	पा	या	न्य	रा	न	ता	७
३	ये	पा	पा	या	त	पा	रा	ये	६
४	श्रि	या	या	ता	न	त	न्व	त	५

इसी प्रकार ४, १८, १९, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ६०, ६२, श्लोकोंको जानना।

(३) गतप्रत्यागतार्द्धः

भासते विभुतास्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः।

याः श्रिताः स्तुत गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१०॥

भा	स	ते	वि	भु	ता	स्तो	ना
याः	श्रि	ताः	स्तु	त	गी	त्या	नु

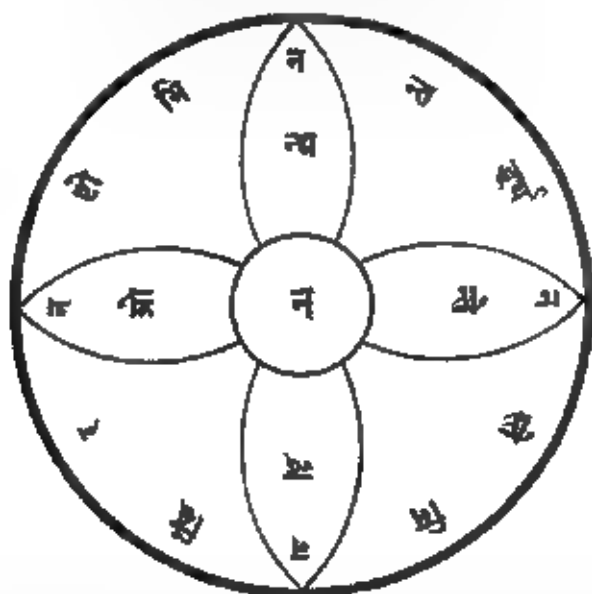
इस कोष्टकमें स्थित श्लोकके प्रथम-द्वितीय चरणोंको उसका

पढ़नेसे कमशः द्वितीय-चतुर्थ चरण बन जाते हैं। इसी प्रकारके श्लोक नं० ८३, ८८, १५ हैं।

(४) गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरश्चक्रश्लोकः

नन्दनन्तद्धर्ध्वन्तेन नन्तेनस्तेभिनन्दन ।

नन्दनर्द्धिस्नग्धो न नग्धो नग्धोभिनन्दन ॥२२॥



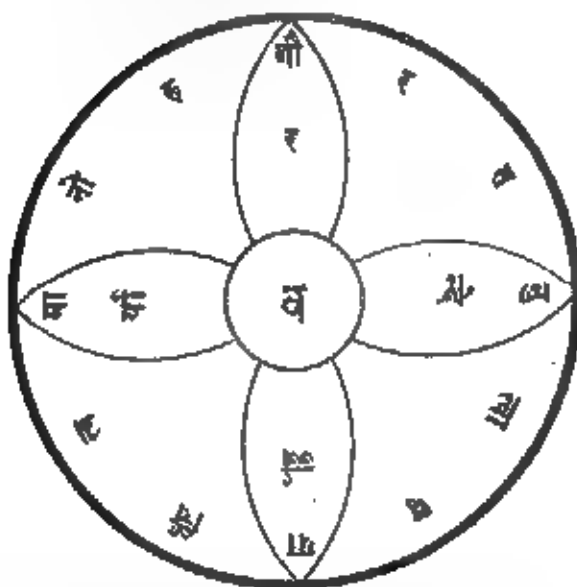
एवं २३, २४ श्लोकौ

यह श्लोकके प्रथमाक्षरको गर्भमें रखकर बनाया हुआ चार आरोंवाला वह चक्रवृत्त है जिसकी चार महादिशाओंमें स्थित चारों आरोंके अन्तमें भी वही अक्षर पड़ता है। अन्त और उपान्तके अक्षर दो दो बार पढ़े जाते हैं। २३, २४ नम्बरके श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

(२) चक्रश्लोकः

वरगौरतनुन्देव वन्दे नु त्वाक्षयार्जव ।

वर्ज्यातिं त्वमार्याव वर्याभानोरुगौरव ॥२६॥



[एवं ५३, ५४ श्लोकी]

यह श्लोकके प्रथमाक्षरको गर्भमें रखकर बनाया हुआ चार आरोमाला चक्रवृत्त है। इसके प्रथमादि कोई कोई अक्षर चक्रमें एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़नेमें आते हैं। ५३, ५४ नम्बरके श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

(६) अनन्तरपाद-मुरजबन्धः

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैः कैः ।

वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः कवीन्द्रः ॥४८॥

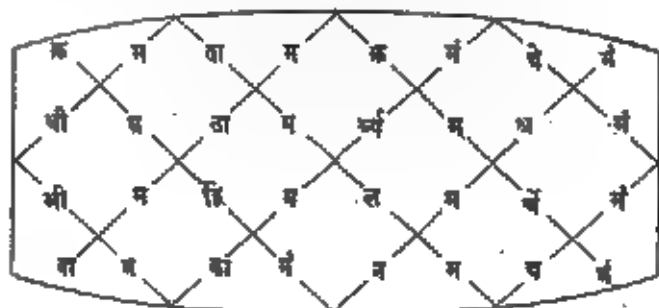


इस चित्रमें श्लोकका एक चरण अपने उत्तरवर्ती चरणके साथ मुरजबन्धको बिम्बे हुए है। ऐसे दूसरे श्लोक नं० ६४, ६६, १०० पर स्थित हैं।

(७) यद्येहेकाक्षरात्तरित-मुरजबन्धः

क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।

श्रीमद्विमलमर्चनं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥



मुरजबन्धके इस चित्रमें ऊपरके चित्रसे यह विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट अक्षर (म) एक एक अक्षरके अन्तरसे पद्यके चारों ही चरणोंमें बराबर प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस प्रकारके दूसरे श्लोक ८६ और ६१ हैं।

(८) अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः

नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाक्षर ।

रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन ॥५७॥

न	त	पा	ल	म	ह	रा	ज	गी	त्या	नु	त	म	मा	क्ष	र
---	---	----	---	---	---	----	---	----	------	----	---	---	----	-----	---

इस कोष्ठकमें स्थित पूर्वार्धको उल्टा पढ़नेसे उत्तरार्द्ध बन जाता है। इसी प्रकार श्लोक नं० ६६, ६८ भी अनुलोम-प्रतिलोम-क्रमको लिए हुए हैं।

(९) बहुकियापद-द्वितीयपादमध्य-यमकाऽन्तालुव्यञ्जना-

ऽवर्णस्वर-गूढद्वितीयपाद-सर्वतोभद्रः

पारावारवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।

वामानाममनामावक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर ॥८४॥

पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा
रा	वा	मा	क	क	मा	वा	रा
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
र	वा	म	रू	रू	म	वा	र
र	वा	म	रू	रू	म	वा	र
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
रा	वा	मा	क	क	मा	वा	रा
पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा

इस कोष्ठकमें ऊपरका श्लोक चारों ओरसे पढ़ा जाता है ।

(१०) गतप्रत्यागतपाद-पादाभ्यासयमकश्लोकः

वीरावार वारावी वरोरुस्रोव ।

वीरावास्वारावी वारिवारि वार वा ॥८५॥

इस कोष्ठकमें स्थित प्रत्येक चरणके पूर्वार्धको छुटा पढ़नेसे उसका उत्तरार्ध बन जाता है । यह श्लोक दो अक्षरों (व, र) से बना है ।

वी	रा	वा	र
व	र	रो	क
वी	रा	वा	र
वा	रि	वा	रि

एवं १३, १४ श्लोकौ ।

(११) अनुलोम-प्रतिलोम-श्लोकयुग्मम्

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुचानुतः ।

भो विमोनशनाजोरुनम्रेन विजशमय ॥८६॥

र	क्ष	मा	क्ष	र	वा	मे	श	श	मी	चा	रु	ह	वा	नु	तः
भो	वि	मो	न	श	ना	जो	रु	न	म्रे	न	वि	ज	श	म	य

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकको उलटा पढ़नेसे नीचे लिखा  
 ८७ वाँ श्लोक बन जाता है :—

यशराज विनम्रेन रूजोनाशन भो विभो ।

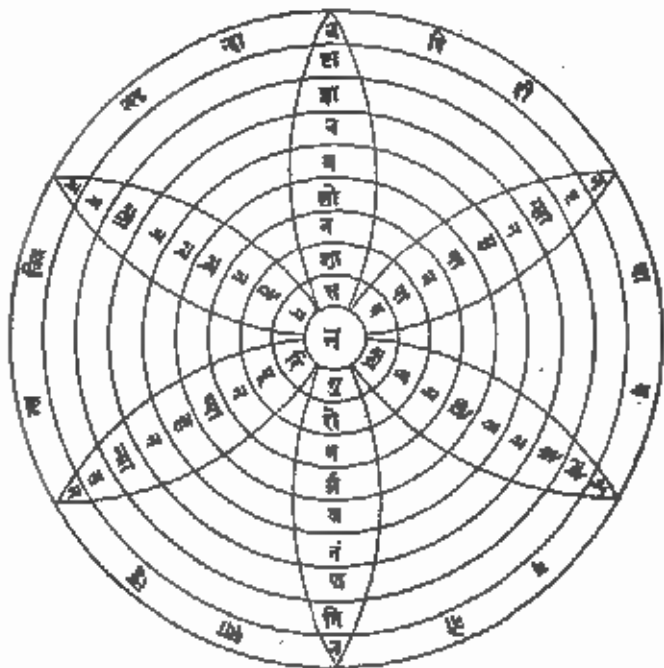
तनु चारुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

य	श	रा	ज	वि	न	म्रे	न	रु	जो	ना	श	न	भो	वि	भो
त	नु	चा	रु	ह	वा	मी	श	रा	मे	वा	र	क्ष	मा	क्ष	र

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकको उलटा पढ़नेसे पूर्वका ८६ वाँ  
 श्लोक बन जाता है । इसीसे श्लोकका यह जोड़ा अनुलोम-प्रति-  
 लोम कहलाता है ।

(१२) इष्टपदवलय-प्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षर-चक्रवृत्तम्

नष्टाज्ञान मलो न शासनगुरो नम्रं जनं पानिन  
नष्टम्लान सुमान पावन रिपून्प्यास्तु नन्मासन ।  
नत्येकेन सृजोन सज्जनपते नन्दन्ननन्ताकिन  
नन्तन्द्धानविहीनधामनयनो नः स्तात्पुनन्सज्जिन ॥१११॥

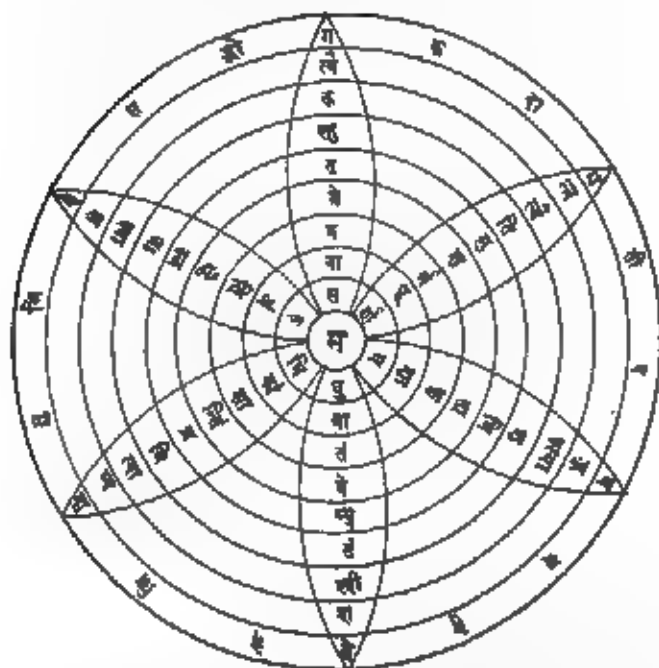


इस चक्रवृत्तके गर्भमें ओ अक्षर है वही वृहो आरोके प्रथम, चतुर्थ और सप्तम वलयमें भी स्थित है अतः १६ बार लिखा जाकर २८ बार पढ़ा जाता है। ११२ वाँ पद्य भी ऐसा ही है।



(१३) कषि-कान्य-नामगर्भ-सकृद्युत्तम्

गत्सैकस्तुतमेव वासमधुना तं येद्युतं स्वीशते  
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ।  
यद्भक्त्या शमिताकृशाधमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये  
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥



इस चक्रवृत्तके बाहरसे जहाँ बलयमें 'शान्तिवर्मकृत' और चौथे बलयमें 'जिनस्तुतिशत' पदोंकी उपलब्धि होती है, जो कवि और काव्यके नामको लिये हुए हैं। कवि और काव्यके नाम बिना इस प्रकारके दूसरे चक्रवृत्त ११०, ११३, ११४, ११५, तन्त्र ६ के हैं।

## अशुद्धि-संशोधन

इस ग्रन्थके छपनेमें बिन्दु-विसर्गादि तथा विरामचिह्नादि-की सहज-बोध-गम्य साधारण अशुद्धियोंको छोड़कर कुछ दूसरी ऐसी अशुद्धियां रह गई हैं जिनका संशोधन आवश्यक है, अतः इसे नीचे दिया जाता है :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	३	सेवनीक	सेवनीय
"	१५	भाषितः	भाषितः
१०	४	१	× (पैरा भी नहीं)
११	८	सुमनो वर्ष	सुमनो वर्ष
१३	५	बानव्यन्तररादि	बानव्यन्तरादि
× १६	१८, १९	सोत्रिकोय	सोत्रिकोय
२२	१६	नन्धतन्तदर्थ	नन्धतन्तदर्थ
२६	४	'न्तर्ध्व'	'न्तर्ध्व'
३०	२१	नवति	भवति
३१	१६	नजौ	तथौ
३३	१४	त्वामयावि	त्वमायावि
३८	२७	रुद्रो	रुद्रो
४३	१५	समथोऽप्यस्य	समथोऽप्यस्य
४४	४, ५	भट्टाकस्य	भट्टारकस्य
४५	२५	नौभि	नौभि
४६	२	पदिषु	पदेषु
४७	१	'स	शं स
"	२	येनांश	येनांश
"	५	कनिष्ठयाः	कनिष्ठयाः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८	२१	गोपव	गोपदं
४८	२४	स्वपत्पने	स्वपत्पते
४६	१४	द्विषेभृतम्	द्विषेभृतम्
५१	१७	अग्नि	पायक (अग्नि)
५४	५	वेशा	वेषा
५५	५	होते	लेते
५६	१२	श्रेयजननामय	श्रेयजननामय
५६	१५	दिस्वादे-र्षगा	दिस्वादे-र्षगा
६१	१६	तमितां	तमिता
६१	२१	अमुत्तमः	अतिमुत्तमः
६१	२२	अक्रमः	अक्रमम्
६१	२२	प्रणामादकमः	प्रणामादकम्
६१	२२	स्तोतृणाम्	स्तोतृणाम्
६३	२१	१-२	२-३
"	२२	इत्यस्य दैवादिकस्य	इत्यस्यदैवादिकस्य
"	२६-२७	जातेरुदाहरण	जातेरुदाहरण
६४	१७	पुमानन्न सन्बुद्धिः	पुमानन्नसम्बुद्धिः
"	२१	नयमान क्षमामान	नयमानक्षमामान
"	"	नमामार्या	नमामार्या
"	२६	मा अयन	मा । अयन
६५	१०	पादेषु	पादेषु
७१	१५	कल्याणतः	कल्याणतः
७२	१	कल्प	कल्प
८२	२३	शमाधरम्	शमाधरम्
८०	२०	मुरजबन्धश्चकृत्सैः	मुरजबन्धश्चकृत्सैः
६०	३-६	दिव्यध्या	दिव्यध्या

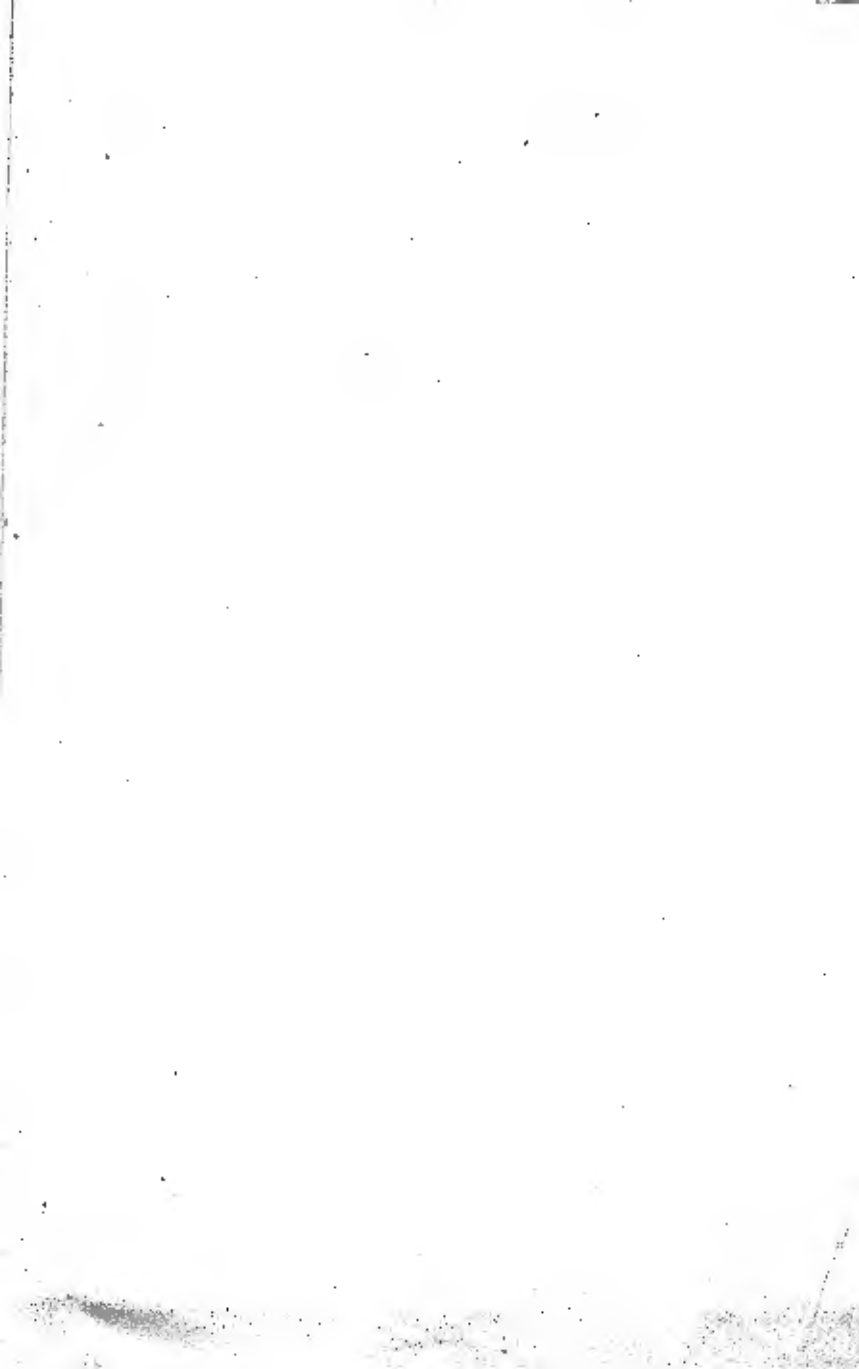
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५	३	अभोच्छिन्	अभोच्छिन्
६७	२२	प्रयत्नरर्वक	प्रयत्नपूर्वक
१०४	१५	पारावाररवार	पारावाररवार
१०६	३	वरोरुरोरव	वरोरुरोरव
"	१६	वत्	तत्
१०८	१८	रोति	रति
"	२३	आसमन्ता' द्रष्टेति आ समन्ताद्रक्षेति	
११४	१७	एकशि	एकविंश
"	२४	अमनामः	अनमाभः
११६	११	सुतीनां	सुतीनां
१२२	२२	श्रीमते	श्रीमते
१२६	१७	नूतीनेग	नूतीनेन
१३१	१२	पर्यैककथाभव	पर्यैकवंधाभव
१३२	१६	प्रध्वंसि गोप्राभवं	प्रध्वंसिगोप्राभवं
१३३	१५	नन्तुन्	नन्तुन्
१३३	१४	नन्दजननन्तावन	नन्दजननन्तावन
"	"	न	तः
१३४	४	नन्तुन् स्तोतुन्	नन्तुन् स्तोतुन्
१३५	२३	ज्ञानवरणादि	ज्ञानावरणादि
१३६	२१	वाक्य	वाक्यगत



## वीरसेवामन्दिरके अन्य प्रकाशन

- १ आप्तपरीक्षा—स्वोपज्ञटीका और अनुवादादि-सहितसजिल्द ... ८)
- २ बनारसी-नाममाला—हिन्दी-शब्दकोश, शब्दानुक्रमसहित ... १)
- ३ श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र—हिन्दी अनुवादादिसहित ... III)
- ४ अनित्य-भावना—हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित ... १)
- ५ उमास्वामि-भावकाधार-परीक्षा—ऐतिहासिक प्रस्तावना-सहित ... १)
- ६ त्रिभाचन्द्रिका तत्त्वार्थसूत्र—अनुवाद तथा व्याख्या-सहित ... १)
- ७ सरसाधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर-वन्द्यमान और उनके बादके  
२१ महान् आचार्योंके १२७ पुण्य स्मरणोंका महत्त्वका संग्रह,  
हिन्दी-अनुवादादि-सहित ... १)
- ८ आध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—हिन्दी-अनुवादादि-सहित ... १॥)
- ९ शासन-चतुर्विंशिका-(तीर्थपरिचय)—हिन्दी अनुवादादि-सहित ... III)
- १० विवाह-समुद्देश्य—विवाहका भाषिक और तात्त्विक विवेचन,  
उसके अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न  
हुई कठिनाई और जटिल समस्याओंको सुलझाया हुआ ... II)
- ११ न्याय-दीपका—संस्कृत टिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्ता-  
वना अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ... ५)
- १२ पुरातन जैनवाक्य-सूची (जैनप्राकृत पद्यानुक्रमणी)—अनेक  
उपयोगी परिशिष्टोंके साथ ६४ मूलग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके  
परिचयको जिये हुये विस्तृत प्रस्तावनासे अलंकृत, सजिल्द ... १५)
- १३ स्वयंभूस्तोत्र—समन्तभद्र-भारतीका प्रथम ग्रन्थ, विशिष्ट हिन्दी  
अनुवाद, छन्दपरिचय और महत्त्वकी प्रस्तावना-सहित ... १)
- १४ जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह—संस्कृत और प्राकृतके कोई १५०  
अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका संग्रहाचरण-सहित अपूर्व संग्रह,  
उपयोगी परिशिष्टों तथा अंग्रेजी-हिन्दी प्रस्तावनाओंसे युक्त ... ४)
- १५ अनेकान्त-रस-सहस्री—अनेकग्रन्थोंकी अनेक सरितासे समझनेकी कुन्जी I)





C✓

Jainism — Stobas  
Religion — Jainism

## 5191-

Author— 4515 4-11-11

Title— 22 (11/12/24)

[illegible]